दृष्टि पात

[हिन्दी साहित्य के विवेचनात्मक निबन्धों का अनूठा संग्रह]

लेखक

पं० विष्णुदत्त अग्निहोत्री 'साहित्य-रत्न'

भूमिका—लेखक

आचार्य पं० नन्द दुलारे बाजपेयी अध्यक्ष
हिन्दी-विभाग सागर विश्व विद्यालय

प्रकाशक

हंसराज खन्ना एण्ड ब्रदर्स नई सड़क

प्रथम संस्करण देहली

२२, फरवरी १९५३ मूल्य १॥)

प्रकाशक
हन्सराज खन्ना
नई सड़क देहली ।

मुद्रक--
पं० मेलाराम शर्मा
राइजिंग सन प्रैस, चावड़ी बाजार,
देहली ।

विषय-सूची

निवेदन

'दृष्टि-पात' विभिन्न-विषयों-सम्बन्धी, मेरी अपनी विचार-धारा का एक सङ्कलन है। इसमें समाहित सभी विषयों को, मैंने स्वानुभव तथा स्वाध्याय के सहारे, अब तक जैसा भी कुछ समझ पाया है, इस ग्रन्थ के रूप में आपके समक्ष प्रस्तुत कर दिया है। एतदर्थ इसके मूल्याङ्कन का भार भी, आप सब पर ही छोड़ता हूँ।

सागर विश्व-विद्यालय के हिन्दी-विभाग के प्रधानाचार्य आदरणीय पं० नन्ददुलारे वाजपेयी जी का मैं हृदय से आभारी हूँ, जिन्होंने इन निबन्धों को एक बार आद्योपान्त देखने के लिये अपना अमूल्य समय दिया तथा भूमिका लिख कर मेरे इस लौह-प्रयास को कञ्चन में बदल देने की कृपा की।

साथ ही मैं उन विद्वान लेखकों का भी ऋणी हूँ जिनके कथनांशों को उद्धृत कर मैंने अपने इन निबन्धों को शृंगार दिया है।

यदि इस ग्रन्थ से राष्ट्र के नवोदित एवं हिन्दी साहित्य के शिक्षार्थी वर्ग को किंचित भी सत्प्रेरणा उद्बोधन और सहायता मिल सकी तो मुझे अपने इस प्रयास से निश्चित ही तुष्टि होगी।

—विष्णुदत्त

प्राक्कथन

—०—

हिन्दी में निबन्ध शब्द संस्कृत-साहित्य से आया है। शास्त्रीय या दार्शनिक विषय को लेकर सर्वांगीण चर्चा में जो विषय-सम्बन्धी तार्किक रूप रहता है वही निबन्ध का प्राथमिक या मूल रूप था। निबन्ध पाण्डित्य का प्रतीक था। अपने मत या पक्ष को सदृढ़ बनाने के लिये निबन्धों का उपयोग होता था। इन निबन्धों में भावात्मकता का अभाव तथा शास्त्रीयता की अधिकता रहती थी। निबंध रचना में शास्त्रों के अर्थों संबंधी खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति का भी योग था।

निबंध का नवीन रूप हिन्दी में भारतेन्दु के द्वारा सम्पन्न हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि भारतेन्दु पाश्चात्य निबंधों के स्वरूप से परिचित थे। वे निबंध को रचनात्मक-साहित्य का अंग मानने की स्थिति में थे। इसीलिए इनके निबंधों में संस्कृत निबंधों जैसा रूप-विन्यास नहीं मिलता। इसके विपरीत यह कह सकते हैं, कि पाश्चात्य निबंधों का थोड़ा-बहुत प्रभाव उन पर अवश्य था। परन्तु उन्होंने ऐसे रूप को भी अपनी दृष्टि में रक्खा था, जो हिन्दी-साहित्य की परम्परा के अनुकूल हो सकता था। रस हमारे साहित्य का लक्ष्य माना गया है। भारतेन्दु के निबंध में रसात्मकता है। इन्होंने भावात्मक और देश की दशा से संबंधित व्यंग्य-विनोद प्रधान निबंध भी लिखे।

भारतेन्दु के निबंध मुख्य रूप से भावात्मक एवं रसात्मक कहे जा सकते हैं। इनके विनोद-प्रधान तथा व्यंग्य-प्रधान निबंध भी भी भावात्मक ही कहे जायेंगे। उनमें हास्य-रस की सृष्टि का उद्योग है। दूसरे प्रकार के निबंधों में भी किसी न किसी प्रकार के भाव हैं। उन्होंने अनेक शैलियों में निबंध लिखे हैं। उनके भावात्मक निबंध करुण रस का उद्रेक करते हैं। यद्यपि उनके विनोदात्मक निबंधों में सरलता है, मार्मिकता है; किन्तु तो भी उनमें एक प्रधान भाव-विशेष की प्रचुरता रहती है। इनके निबंधों को काव्य के निकट रक्खा जा सकता है। इनके विनोदात्मक निबंधों के संबंध में यह नहीं कहा जा सकता कि वे रसात्मकता या भावात्मकता से दूर हैं। निबधों की यह भावात्मक शैली "गद्य-काव्य के निकट रहने वाली एक नई परम्परा का आविर्भाव करती है।

भारतेन्दु युग में पत्र-पत्रिकाओं के लिए निबंध लिखे गये। पं० बालकृष्ण भट्ट और राधाचरण गोस्वामी दो प्रमुख लेखक थे।

ये गम्भीरता तथा थोड़ी-बहुत विवेचना के साथ विषय को प्रस्तुत करते थे। असल में "विचार-प्रधान" निबन्धों का श्री गणेश इन्हीं लेखकों ने किया। तो भी इनके निबन्धों में भारतेन्दु के प्रभाव के कारण भावात्मकता अथवा भावुकता का पुट रहा है।

तृतीय धारा में प्रकृति या प्राकृतिक-सौन्दर्य-सम्बन्धी निबन्ध आते हैं। प्रकृति-पूजा की नींव के पड़ने से प्रकृति के सुन्दर रूपों को अपनी एक भावात्मक शैली में निबंध रूप में प्रस्तुत किया जाने लगा। सौन्दर्य-स्थलों या स्थानों का यात्रा-वर्णन भी निबंधों में समाविष्ट किया गया। सौन्दर्य चित्रण और विवरण की

प्रमुखता के आधार पर हम इन्हें विवरणात्मक-निबन्ध कह सकते हैं।

इस युग के प्रमुख निबन्धकार श्री प्रतापनारायण मिश्र के निबन्धों में व्यंग्य तथा विनोद वृत्ति है, जो प्रच्छन्न-शैली में किसी भाव का व्यंग उपस्थित करती है। साहित्यिकता और प्रच्छन्नता इनके निबन्धों की विशेषताएं हैं। इनके स्वानुभूति-प्रधान निबन्धों में व्यक्तित्व की झलक भी है।

उस समय प्राचीन अथवा संस्कृत-परम्परा की शास्त्रीय प्रणाली के निबन्ध भी लिखे गये।

स्वामी दयानन्द तथा आर्य-समाजी संस्थाओं के विभिन्न प्रवर्तकों आदि ने खण्डन-मण्डन-पूर्ण शास्त्रीय निबन्ध और लेख लिखे। इन आर्य-समाजी निबन्धों का स्वरूप, प्रायः संस्कृत-साहित्य के निबन्ध या प्रबन्ध जैसा ही था।

भारतेन्दु-युग द्वारा निर्मित भूमिका के आधार पर जैसी सम्भावनायें और आशायें थीं, कि एक दिन निबन्ध का विकास अपने नए रूप में पूर्णतः स्फुटित होगा, बात वैसी नहीं हुई। द्विवेदी-युग में केवल गम्भीरता प्रधान निबन्ध ही लिखे गए। उनमें स्वच्छन्दता तथा लेखकों की मन-मौजी-प्रवृत्ति नहीं रही। यही कारण है, कि निबन्धों की परम्परा बहुत आगे न बढ़ सकी स्वयं द्विवेदी जी इस युग के निबन्धकार थे। उन दिनों 'सरस्वती' में विवरणात्मक और सूचना प्रधान निबन्ध या लेख रहते थे। व्यंग भी विद्यमान रहता था। यत्र-तत्र उपदेश भी लक्षित होता था। द्विवेदी जी के निबन्धों में व्यक्तित्व की शैली दो रूपों में है—एक तो भाषा शैली, जो उनकी अपनी थी और दूसरे कठोर और तीव्र व्यंग्य। ये निबन्ध सूचना प्रधान हैं। भाषा की शैली

पुनरावृत्ति-मूलक है, वाक्यांश छोटे हैं, पर एक बात को दुहरा दुहरा कर वे मानो उसे अभीष्ठ बनाना चाहते हैं। यह परिपाटी प्राय: भाषणात्मक होती है। निबन्धों की स्वाभाविक शैली, जो पाश्चात्य निबन्धों में उपलब्ध होती है, उससे यह बिलकुल भिन्न है। इनका गद्य ठोस है। द्विवेदी जी पूर्ववर्ती लेखकों के काव्यात्मक-गद्य से उपयुक्त भाषा का माध्यम बनाने में ऐतिहासिक हैं। "गद्य-पद्य" भाषा का उपयोग वे नहीं कर सके, किन्तु उन्होंने इस योग्यता को भी श्रेणी का पूर्ण परिचय दिया। अब यह धारणा बन गई कि विशुद्ध शैली में ही निबन्ध का विकास सुरक्षित है। यह स्वतन्त्र-स्थापना गद्य-शैली के रूप में अवतरित हुई।

विचारात्मक निबन्धों और वर्णनात्मक निबन्धों का विकास भारतेन्दु युग में हुआ। द्विवेदी-युग में विवरणात्मक या परिचयात्मक तथा विचारात्मक निबन्धों का लेखन होता रहा। द्विवेदी के समकालीन निबंधकारों में सरदार पूर्णसिंह, माधवप्रसाद मिश्र, गुलेरी जी और शुक्लजी का नाम लिया जा सकता है।

पूर्णसिंह के निबन्धों में पश्चिम का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। उनकी भाषा में लाक्षणिकता है तथा विषय-प्रतिपादन पश्चिम से प्रभावित है। वे स्वछन्द प्रकृति थे। इसमें उन्होंने रास्किन, इमरसन, कार्ललाइन और न्यूमेन के समान ही जीवन को आदश माना था।

इन्ही लोगों का प्रतिरूप इनके निबन्धों में मिलता है। इनकी शैली प्रवाह-पूर्ण है। विचार-सूत्र भावना की धारा में बहते चलते हैं। निष्कर्ष अस्पष्ट सा ही रहता है, पाठक पर केवल उनका प्रभाव रहता है। इनके निबंधों में कोई व्यवस्था नहीं

रहती है। शैली की प्रभावोत्पादकता तथा प्रभावपूर्ण लेखन ही इनकी प्रमुख विशेषता है।

माधव प्रसाद मिश्र तथा गुलेरी जी एक ही प्रकार के निबन्ध लिखते हैं। गुलेरी जी के निबन्धों में प्राचीन-संस्कृत-सम्बन्धी विवरण हैं। कहीं कहीं चुहल भी मिल जाती है, जो उन्हें शुष्कता से बचा लेती है। गुलेरी जी के निबन्धों में विषय-प्रतिपादन की योग्यता है। शैली में उतना अनोखापन या नवीनता नहीं है। जितना विषय के उद्घाटन में है। गुलेरी जी की शैली में पांडित्य का गुण है। इन्होंने नवीन जानकारी और नया दृष्टिकोण देकर अपने निबन्ध आकर्षित बनाये हैं। कुछ अंश तक यही पद्धति बाबू श्यामसुन्दर दास जी की हैं जिनके निबन्ध अधिकाँश साहित्यिक हैं। साहित्य-संबंधी निबन्धों में बाबू सा० का स्थान मुख्यहै। विषय-विवेचन की गम्भीरता और संयम के गुण इनकी शैली में है। यही कारण है, कि इनके निबन्ध यत्र-तत्र इतिवृत्तात्मक हो गये हैं। इन्होंने विचारात्मकता से आगे बढ़कर विवेचनात्मक निबन्धों की भी सृष्टि की है। केवल विषय प्रतिपादन-सम्बन्धी गम्भीरता के कारण बाबू श्यामसुन्दरदास की शैली गम्भीर हो गई है।

यह निबन्धों की मध्यवर्त्ती धारा है। हिन्दी में अधिकतर भावात्मक निबन्ध तथा बाद में विचारात्मक और आत्म-मूलक निबन्ध लिखे गये।

द्विवेदी युग में दो लेखक और हैं—

बालमुकन्द गुप्त और पद्मसिंह शर्मा। गुप्तजी में विनोद-प्रधानता है। इनकी भाषा में बोलचाल का सौन्दर्य और मुहावरों

का प्रयोग मिलता है। चलतू भाषा इनकी भाषा का स्वरूप है। है। वे व्यंग का पुट भी रखते हैं। शर्मा जी की शैली साहित्यिक दृष्टि से चमत्कारपूर्ण है। उनमें अनोखापन, गति और भावुकता भी है। इसी बीच रामचन्द्र शुक्ल का प्रवेश हिन्दी निबंध क्षेत्र में हुआ।

शुक्ल जी के निबन्धों के सम्बन्ध में प्रश्न उठाया जाता है। कि वे निबन्ध विषय-प्रधान हैं या व्यक्ति प्रधान ? कहा जाता है कि शुक्ल जी ने बुद्धि और हृदय दोनों के योग से ये निबन्ध लिखे हैं। अतः शुक्ल जी के निबन्ध वस्तु प्रधान होते हुए भी व्यक्ति प्रधान हैं। उनमें दोनों धाराएं समान रूप से दिखाई पड़ती हैं। परन्तु केवल बुद्धि-पक्ष और हृदय-पक्ष के योग से ही वस्तु प्रधान और व्यक्ति-प्रधान निबन्ध तैयार नहीं हो जाते।

व्यक्ति-प्रधान निबन्ध विशेषतः हार्दिक अनुभूति पूर्ण ही नहीं होते। आत्माभिव्यंजक निबन्धों के मूल में एक विशेष प्रकार की हार्दिक वृत्ति होती है। और केवल सामान्य या प्रत्येक प्रकार की हृदय-वृत्ति नहीं होती। वैसे भारतेन्दु-युग में भी भावात्मक और काव्यात्मकतापूर्ण निबन्ध लिखे गये परन्तु वे निबन्ध व्यक्ति मुखी या आत्माभिव्यँजक नहीं कहे जा सकते। वह हार्दिक वृत्ति जो इन निबन्धों का सृजन करती है, बहुत कुछ अन्तमुखी और वैयक्तिक होती है। वह लेखक के अन्तर का उद्घाटन करती है। हार्दिकता तो सभी में होती है। परन्तु प्रत्येक व्यक्ति की रुचियाँ पृथक पृथक होतीं हैं इन्हीं रुचियों का प्रकाशन ऐसी शैली में किया जाना, जो एक विशेष वातावरण का भी निर्माण करे, व्यक्ति-मुखी निबन्ध शैली के उपयुक्त होता है। ऐसे निबन्धों में उतार-चढ़ाव घुमाव-फिराव अधिक रहता है। लेखक, मूल

विषय की चर्चा करता हुआ दूसरे प्रसंग में भी रम जाता है। और फिर मूल विषयों के सूत्र को पकड़ लेता है। ऐसे निबन्ध प्रायः पारिवारिक—वातावरण और सामान्य-घरेलू दृष्टान्तों के लिए होते हैं। उपर्युक्त व्यक्ति-मुखी निबन्धों की विशेषताएं शुक्ल जी के निबन्धों में नहीं के बराबर प्राप्त होती हैं। अतएव उन्हें विषय-मुखी और व्यक्ति-मुखी निबन्धों का रूप भी नहीं कहा जा सकता।

असल में ये निबन्ध तो विवेचनात्मक या विषय प्रधान निबंध कोटि में आते हैं।

शुक्ल जी के निबंधों की नेत्री-बुद्धि है, और हृदय है उसका सहचर या साथी। अपने निबंधों में वे यत्र-तत्र इस साथी का उपयोग कर लेते हैं। उनके निबन्धों का मुख्य तत्व उनका बुद्धि-पक्ष ही है। जिन विषयों को लेकर शुक्ल जी ने निबन्ध लिखे हैं, वे ऐसे ही हैं। कि जिनमें कम से कम ऊपरी दृष्टि से तो बौद्धिक विवेचन ही अनिवार्य दीखता है। 'चिन्तामणि" के निबन्ध कतिपय मनोवृत्तियों का विवेचन करते हैं। इनके स्वरूप का निर्देश ही ये निबन्ध प्रत्यक्ष रूप से करते हैं। उनके निबन्ध विश्लेषणात्मक हैं। शुक्ल जी कभी भी परिभाषा देना नहीं भूलते। यह बौद्धिक प्रक्रिया का चरमोत्कर्ष है। परिभाषा बुद्धि की सर्व व्यापक और प्रमुख क्रिया है। उनका दूसरा उपक्रम है। उन 'वृत्तियों' का व्यवहार पक्ष और सामाजिक जीवन में उपयोग। इनके निबन्धों में व्यवहारिक जीवन में इन 'वृत्तियों' के विवेचन की जो बात है—बुद्धि का कार्य है। शुक्ल जी इस बात का विवेचन उतना ही करते हैं कि वे फुटकल रूप में जीवनमें कैसी दिखलाई पड़ती हैं, बल्कि वे उनका विवेचन एक दार्शनिक बंधन में

बँधे हुये लक्ष्य के अनुरूप होता है। उनका दार्शनिक लक्ष्य है, जीवन में मनोवृत्तियों का आदर्शात्मक उपयोग। यही वे मुख्य रूप में दिखलाते हैं। इसी कारण वे उन वृत्तियों का ही दर्शन करते हैं या विवेचना करते हैं, जो कि उनके दार्शनिक लक्ष्य के लिए आवश्यक हैं।

शुक्ल जी का विवेचन-क्रम अत्यन्त संतुलित एवं व्यवस्थित है। वह अगाध और अनिर्णीत नहीं है वल्कि सुनिर्णीत एवं सुव्यवस्थित है। उनका विचार-क्रम सुव्यवस्थित है। सभी चीजें एक प्रणाली में बँधी हुई हैं। अतएव उनके निबन्धों के सभी प्रमुखाधार इन निबन्धों को विवेचनात्मक बनाने में योग देते हैं। भाषा शैली में सौष्ठव है असाधारणता है और पारिवारिकता नहीं है। इनकी शैली साहित्यिक है। उनके निबन्धों में व्यक्तिमुखी या आत्माभिव्यंजक निबन्धों के गुण नहीं प्राप्त होते हैं। उनमें हृदय-पक्ष की अधीनता के जो वक्तव्य हैं, वे प्रायः सभी प्रकार के व्यंगात्मक रूप में ही आये है। जहाँ वे किसो रीति-नीति से चिढ़ते हैं, वहीं वे हृदय-पक्ष के उद्गारों को खुलकर व्यक्त करते है।

अतएव शुक्ल जी के ये हार्दिक उद्गार उनकी शैली के अपवाद हैं। हृदय-पक्ष का केवल इतना प्रवेश जो उनके निबन्धों में होता है, उसे हम कोई बड़ा महत्व नहीं दे पाते। यह दूसरी बात है, कि उनके विचार या जीवन सम्बन्धी जो आदर्श हैं, उसमें हृदय-पक्ष और बुद्धि का समन्वय पाया जाता है। अतएव उनके निर्देश हृदय और बुद्धि दोनों की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं पर मुख्य रूप से उनके निबन्ध विवेचनात्मक ही कहे जावेंगे। उनका जीवन-दर्शन बुद्धि और हृदय-पक्ष को लेकर जरूर चला है, परन्तु वह व्यक्त तो बुद्धि प्रधान एवं विवेचनात्मक रूप में ही हुआ

है। शुक्ल जी की निबन्ध-शैली विषय प्रधान या विवेचनात्मक है, वह तार्किक दृष्टि से सुसंवद्ध है। अतएव उन्हें न हम 'व्यक्ति-मुखी' कह सकते हैं और न हार्किता-प्रधान।

शुक्ल जी के पश्चात हिन्दी में विचारात्मक और विवेचनात्मक निबन्ध लेखन की एक परंपरा चल पड़ी जो आज के अधिकांश निबन्धों में देखी जाती है। कतिपय मित्र-शैली के निबन्ध-लेखक हैं, परन्तु आज हिन्दी संसार की प्रमुख-निबन्ध शैली वही है जिसका प्रवर्तन शुक्ल जी कर गये हैं। समय बदला है, विचार बदले हैं पर साहित्यक शैलो में अब भी बहुत बड़ा परिवर्तन नहीं हुआ।

प्रस्तुत पुस्तक के निबन्ध भी विचारात्मक कोटि में ही आते हैं और शैली की दृष्टि का शुक्ल शैली का अनुवर्तन करते है। इनके लेखक श्री विष्णुदत्त अग्निहोत्री साहित्य, जीवन और संस्कृति संबंधी बहुत कुछ स्वतन्त्र धारणाएं रखते हैं जो वैयक्तिक अनुभवों के आधार पर निर्मित हैं। इसलिये इन निबंधों में स्वतंत्र दृष्टि के साथ वह व्यापक संतुलित भी हैं जो निजी और सतत अनुभव प्रवणता का परिणाम है। श्री अग्निहोत्री मध्यप्रदेश के श्रमजीवी कवि और चिंतक हैं, इसलिए उनके भावों और विचारों में जीवन के कठोर अनुभवों की छाया भी मिलती है। प्रस्तुत निबंध-पुस्तक विचारोत्तेजन एवं ज्ञानोपार्जन की दृष्टि से पठनीय है। नवयुवकों और नवयुग के विद्यार्थियों के लिये इसका अनुशीलन विशेष रूप से उपादेय होगा।

नन्ददुलारे वाजपेयी

राष्ट्रभाषा और उसकी उपयोगिता

"वाक् कस्माद् बचे" :—(निरुक्त २-२२-२) जिस किसी भी शब्द को वाक् कहते हैं। यथार्थ में वाक् ही व्यक्ति के हृदय में, समय-समय पर उद्भूत-होने रहने वाली भावनाओं और अनुभूतियों की प्रकाशक है। 'वाक्' का परिष्कृत एवं पर्यायवाची शब्दवाणी है। वाणी-विहीन-विश्व; शून्य और मानव-जीवन जड़ ऐसा ही है। यदि वाक् की सृष्टि न होती, तो सत्-असत् तथा धर्म-अधर्म का स्पष्ट ज्ञान ही न होता और तब ज्ञानी अज्ञानी, साधु-असाधु एवं दुष्ट-दयालु व्यक्ति की स्पष्ट ज्ञातव्यता एक समस्या ही होती।

सृष्टि के प्रारम्भ में मानव ने जब, पहले पहल, इस विश्व में आँख खोली तथा इस जड़-जगत से साक्षात्कार पाया, तब उसके-मन में जो भावनायें आयीं, वे ही भावनायें वाणी के रूप में बाहर आईं। इससे स्पष्ट है कि वाणी के प्रादुर्भाव का आधार, वाह्य जीवन की समस्याओं की पूर्ति नहीं था ! उसका एक मात्र उद्देश्य जड़-प्रकृति से एकाकार होकर, सत्य की खोज करना ही था !

इसी शब्द, वाक् या वाणी को, कालान्तर में मानव ने निश्चित आकृति अथवा रूप-रेखा दी और उसे वर्णमाला के रूप में

प्रतिष्ठित किया ! शनैः शनैः यही वाक्, लिपि-बद्ध होकर भाषा बनी। भाषा के निर्माण के पश्चात उसे विशिष्ट नियमों और बन्धनों में बाँध कर, विशुद्ध स्वरूप देने का कार्य व्याकरण ने किया। परन्तु वाणी कब बोली हुई और बोली ने किस युग में भाषा का स्वरूप पाया, यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता !

वाक् और विचारों का सम्बन्ध चिरन्तन है। महर्षि पतंजलि ने— "नित्ये शब्दार्थ सम्बन्धे" और महाकवि कालिदास ने— "वागार्थ विव संपृक्तौ"—लिखकर इसी कथन की पुष्टि की है। उपनिषदों में 'वाक्' की महानता तो यहाँ तक वर्णित है कि :—

"वाक् ऋग रसः ऋचः सामरसः साम्न
उद्गीथो रसः" (छन्दोग्य उप० १-१-२)

अर्थात्—वाक् का सौन्दर्य, छन्द का परिधान पाकर, चमक उठता है और तब वह ऋक, छन्द, श्लोक या कविता की संज्ञा पाती है।

उपनिषद के मतानुसार वाक् को ही ब्रह्म माना है क्योंकि यह विश्व, ब्रह्म का ही विराट स्वरूप है और यह स्थूल जगत वाक् का ही एक विकार है। इसलिए सूक्ष्मातिसूक्ष्म अध्ययन के पश्चात् 'वाक्' और 'ब्रह्म' से अभेद समानता दिखाई देती है।

इस प्रकार भाषा वाक् का एक ऐसा परिष्कृत रूप है जिसे बुद्धि जीवी एवं जिज्ञासु मानव ने, अपने बुद्धि कौशल के सहारे, इस प्रकार चिंत्रित किया है।

किन्तु 'वाक्' केवल जिह्वा का अर्थ-हीन व्यापार नहीं है ! वह मानव के अन्तर की पुकार भी है ! इसलिए प्रत्येक राष्ट्र की भाषा में इस राष्ट्र के मानवों की समस्त अन्तरानुभूतियों, उनकी सम्भावनाओं, कल्पनाओं और अनुभवों की समाविष्ट भी अनिवार्य है।

साथ ही जहाँ भाषा मानव-मन की विचार-प्रदर्शिका है वहाँ वह एक मानव के विचारों को अन्य मानव से, अवगत कराने का भी, सर्वोपरि माध्यम है। इसी उद्देश्य को लक्ष्य में रखकर एक राष्ट्र के समस्त निवासियों की अपनी, एक ही राष्ट्र भाषा की महती आवश्यकता का विचार पुष्टि पाता है।

कोई भी राष्ट्र, राज्य-शासन और समान व्यवस्था की दृष्टि से अथवा जाति-भेद के कारण एक होकर भी अनेक भागों में विभाजित रह सकता है। और इन विभागों में एक या अनेक भाषाओं का प्रचलन भी अहितकर नहीं! क्योंकि एक विशिष्ट भूभाग के निवासियों की अपनी एक ऐसी भाषा का होना, जिसके द्वारा उस क्षेत्र के वासी भी जातिधर्म या सम्प्रदाय के अनुयायी अपनी विचार-धारा को एक दूसरे पर सरलता से प्रदर्शित करें, अनुचित नहीं है। क्योंकि जो व्यक्ति जिस समाज और जाति विशेष में जन्म लेता और नित्य व्यवहृत होता है, वह उसी समाज या जाति द्वारा मान्य, भाषा में अपने विचारों को अति सुगमता के साथ दूसरों पर प्रकट भी कर सकता है और अन्य सजातीय बन्धुओं की विचार-धारा से अवगत भी हो सकता है। परन्तु राष्ट्र में इन सामाजिक; जातिगत और प्रादेशिक विभिन्नताओं के रहते हुए भी, समस्त राष्ट्र के निवासियों में विचार साम्य होना भी राष्ट्रीयता की दृष्टि से बहुत आवश्यकीय है। समाज के लिये व्यक्ति का और राष्ट्र के लिए समाज अथवा जाति का, त्याग एक महानता है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति अपने राष्ट्र के प्रति ठीक उतना ही अपितु उससे अधिक उत्तरदायी है, जितना वह स्वतः को अपनी जाति, समाज अथवा प्रदेश के लिये अनुभव करता है। एतदर्थ एक राष्ट्र के निवासियों का जाति, समाज और

प्रादेशिकता की संकीर्णभावना से ऊपर उठ कर, राष्ट्रोत्थान उसके कल्याण और पुननिर्माण के हेतु विचार-विनियम नितान्त आवश्यक हो जाता है। किस समाज जाति के अथवा किस प्रदेश के, किस व्यक्ति में कब कैसी राष्ट्रहितैषिनी महान कल्पना का प्रादुर्भाव होता है यह तब तक भली तरह नहीं जाना जा सकता जब तक समस्त राष्ट्र की अपनी एक भाषा नहीं हो जाती! अनेक प्रादेशिक भाषाओं के रहते हुए भी, जिस राष्ट्र की अपनी एक राष्ट्र भाषा होती है उस राष्ट्र के किसी भी प्रदेश या समाज का व्यक्ति जब तक जिस महान कल्पना का अनुभव करता है उससे वह सम्पूर्ण राष्ट्र, एक न एक दिन परिचय पा ही लेता है। यह राष्ट्र और उस राष्ट्र के व्यक्तियों के लिये बहुत लाभ की बात है।

हमारा देश भी हर दृष्टि-कोण से, एक राष्ट्र है। और इसलिए सम्पूर्ण राष्ट्र की अपनी एक राष्ट्र भाषा का होना, उसके राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा आध्यात्मिक, प्रत्येक दृष्टिकोण से महानता रखता हैं। राष्ट्र की स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात्, हिन्दी का नाम राष्ट्र भाषा के लिए बहुमत से चुना गया और आने वाले कुछ वर्षों में वह अपने स्थान को ग्रहण भी कर लेगी; ऐसी कल्पना है।

किन्तु यह राष्ट्र भी एक विचित्र राष्ट्र है! संसार के अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा, इसकी अपनी कुछ विशेषतायें ही पृथक हैं। विचार साम्य और विचार विभिन्नता का ऐसा अनूठा देश, शायद ही इस पृथ्वी पर कोई दूसरा हो। देशवासियों की संख्या के बराबर यहाँ देवी-देवताओं की संख्या है! जाति के भेद और प्रभेद तो इतने हैं कि उनकी गणना सरलता से नहीं की जा सकती। भिन्न-भिन्न प्रदेशों की भिन्न-भिन्न बोलियाँ और भाषाएं हैं। इसका यह परिणाम हुआ कि राष्ट्र भाषा के स्थान प्राप्ति के लिए प्रत्येक प्रदेश अपनी भाषा का स्वप्न देखने लगा।

इसी विषमता ने प्रान्तीयता को जन्म दिया, किन्तु राष्ट्र के पुनर्निर्माण और कल्याण की दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति का उदार-हृदय और विवेकी होना जरूरी है। उसे स्व-जाति, स्व-प्रदेश और स्व-समाज की संकीर्ण भावना को तिलांजलि देकर एक मत होकर, ऐसी भाषा को राष्ट्र भाषा का स्थान देना चाहिये, जिस भाषा में राष्ट्र भाषा होने के सर्वाधिक गुण समाहित हों। हिन्दी पूर्ण युक्त न होते हुए भी, राष्ट्र की समस्त भाषाओं की अपेक्षा सबसे अधिक विशेषतायें रखती है, यह विवाद-ग्रस्त विषय नहीं रह गया है!

इस वाह्य विभिन्नता के बाद, जब हम देश की आन्तरिक समानता की ओर दृष्टिपात करते हैं, तब हमारे आश्चर्य और प्रसन्नता का ठिकाना ही नहीं रहता!

एक समय था जब वैदिक काल में इस सम्पूर्ण देश में एक मात्र संस्कृत भाषा का ही प्रचलन था। समस्त देश को, उत्तर से दक्षिण तक और पूर्व से पश्चिम तक, एक ही संस्कृति का साम्राज्य था। किन्तु कालान्तर के पश्चात् यह देश, यूनानी, यवन और आंग्ल महाप्रभुओं की संस्कृति से प्रभावित हुआ। तथा प्रत्येक विजयी जाति ने इस देश को रहन-सहन, यहां की वेष-भूषा, रीति रिवाज और भाषा को नष्ट कर, अपनी संस्कृति का प्रसार कनरा चाहा। परन्तु इस राष्ट्र की संस्कृति की यह विशेषता है कि युग-युग तक विजित रहने के बाद भी, देश आज भी अपने प्राचीन संस्कारों को जीवित रखे हुए, गौरवान्वित है। किन्तु इस मोक्ष का कारण हमारा अपना विवेक और पौरुष नहीं है। हमें उन विदेशी तथ्यों से बचाने में हमारी अपनी संस्कृति की ही विशेष कृपा दिखाई देती है। और इस संस्कृति की रक्षिका और वाहिका है हमारी भाषा।

अवनि और आकाश के बीच में जिस प्रकार अदृश्य वायु, सदा से प्रवाहित होकर, प्राण-प्राण की श्वांस बन कर अपनी शक्ति से अनुप्राणित करती रहती है उसी प्रकार भारतीय संस्कृति, इन अनेक विदेशी संस्कृतियों के सागर में हमेशा के लिए समाहित होने से बचाने के लिए नाव बनकर सहायक सिद्ध हुई है। इस देश में कितनी ही संस्कृतियाँ आईं और गईं, किन्तु भारतवर्ष की सन्ध्या व गायत्री का, दिन में तीन बार साधन, रामायण, गीता और महाभारत का विधिपूर्वक पारायण, अध्ययन और मनन अबाध गति से चलता रहा। देश के उत्तर, दक्षिण, पूर्व और दिशाओं में अधिष्ठित चतुर्थधामों की पूजा-अर्चना, आज भी ज्यों की त्यों विद्यमान है। उत्तरीय हिमाचल प्रदेश से दक्षिण स्थित कन्या कुमारी तक द्वारकाश्रम से आसाम की काम रूपी देवी तक, राम, कृष्ण और देवी की विराट प्रतिमायें, सदा ही विद्यमान हैं! राष्ट्र के निवासियों की जीवन—विभिन्नता में रीतिरीवाजों और कल्पनाओं की एक रूपता है और जिसका महमूद गजनवी की बज्र घातिनी मुष्टिका भी कुछ न बिगाड़ सकी, खिलजी की नृशंसता और औरंगजेब की की कट्टर—धार्मिकता की आग में विनष्ट करने असमर्थ रही, वह देव-स्वरूप, वह अविछिन्न एक रूपता, प्रादेशिकत के विष से नष्ट नहीं की जा सकती।

परन्तु इस सन्तोष से न तो हमारे कर्त्तव्यों की इति श्रहीं हो जाती है और न हमारा इस ओर से अन्यमनस्क होना ही किसी प्रकार न्यायोचित है। आज तो हमें इस बात की जरूरत है कि जितने शीघ्र हो सके उतने शीघ्र, प्रादेशिकता की संकुचित भावना को त्याग कर, एक राष्ट्र और एक जाति की विचार धारा को, बलवती बनायें तथा राष्ट्र के प्रत्येक विचार की अन्तरानुभूतियों से उसकी

सम्भावनाओं और कल्पनाओं से समस्त राष्ट्र शीघ्रातिशीघ्र परिचित हो सके, ऐसा प्रयत्न करना चाहिये ! और यह सब तब ही सम्भव है जब समस्त राष्ट्र की अपनी एक भाषा, एक मत होकर, स्वीकृत करली जाय और सम्पूर्ण निष्ठा और श्रद्धा, उसे अपना कर, राष्ट्र की समस्त, प्रतिभा से उसका पोषण संवर्द्धन किया जाय।

दृष्टा और सृष्टा

किसी भी युग में, मनुष्य को उसके अपने वर्तमान-युग के वातावरण में से हो कर जाना होता है; परन्तु प्रत्येक युग का वर्तमान जीवन, उस मानव विशेष का अपना आदर्श नहीं होता। वह युगीन परिस्थिति के अनुसार व्यवहृत तो होता है; परन्तु उसे अपने वर्तमान से पूर्ण तुष्टि हो जाती हो—ऐसी बात नहीं है। उसका वर्तमान असंग्रहणीय विभिन्नताओं से युक्त होता है। उसमें उसके जीवन का विस्तार तो होता है; परन्तु पूर्ण वास्तविकता नहीं। उन विभिन्नताओं में मानव-मन की अभिव्यक्ति ही आँकी जा सकती है, उसका आदर्श नहीं।

उसे अपने उस वर्तमान युग की कार्य प्रणालियाँ, कुछ रुचिकर और कुछ अरुचिकर भी होती हैं; अर्थात् जिनसे वह सहमत है उनके सम्बन्ध में उसे कोई चिन्ता नहीं रहती; परन्तु जिनसे वह असहमत होता है, उनमें वह किसी प्रकार की अपूर्णता का अनुभव करता है या उन्हें वह अनीति, असंगत एवं अनुचित के विशेषणों से विभूषित करता है। निश्चय ही या तो वह उन्हें विनष्ट करन चाहता है या उनमें ऐच्छिक परिवर्तन-परिवर्द्धन कर, अपनी प्रतिभा और हार्दिक-अभिलाषा के अनुसार, स्वरूप देने का विचारक होता है। इस तरह वह 'जो है' के क्षेत्र को भेदता हुआ 'जो होना चाहिए' की ओर आगे बढ़ता है; परन्तु 'जो था' उससे वह

निरीह हो, जाता हो ऐसी बात भी नहीं है। इस 'जो था' पर, मानव अपनी दृष्टि रख कर, वर्तमान से तुलना करता हुआ, अपने लक्ष्यादर्श—'जो होना चाहिए'—की ओर निरन्तर प्रगतिशील होता रहता है। इसी प्रवृत्ति में कलाकार की वास्तविकता का—मूल्यांकन छिपा रहता है और सच्चा साहित्यकार या कलाकार इसी में अपने जीवन की सार्थकता का अनुभव भी करता है।

'जो है' उसी के अनुरूप व्यवहृत होने में कुछ काल के पश्चात् मनुष्य की जड़ता का बोध होने लगता है। इस जड़त्व के ज्ञान के परिणाम-स्वरूप, यदि वह जहाँ है वहीं बने रहने का अभिलषी हो जाता है, तो वह साहित्यकार भी जीवित मृत्यु से अधिक कुछ भी नहीं है।

मान के 'जो है'—इस वर्तमान को सीमित कर दिया जाय जिससे उसे अपने लक्ष्यादर्श—जिसे वह अपनी प्रतिभा और अनुभव के आधार पर, निर्णीत कर चुका है—की ओर पैर बढ़ाने को स्थान न मिले, तो मनुष्य की उस जीवन से साँस भी घुटने लगे; क्योंकि वह जो कुछ चाहता है वही सब कुछ उसके अपने वर्तमान में समाहित नहीं रहता और इसी लिए न तो वह पूर्ण मनः तुष्टि का अनुभव करता है और न उसकी प्राप्ति से अकर्मण्य ही रहता है।

मनुष्य तो अनादिकाल से आवृत को अनावृत्त और अज्ञात को ज्ञात कर लेने का जन्मजात अभ्यासी रहा है। इसीलिए उसके वर्तमान में जो कुछ नहीं रहता उसे वह पाने के लिये कुछ उठा नहीं रखता। यही उसकी जन्मजात प्रवृत्ति है।

यही कारण है कि युगों-युगों से, जब से इस सृष्टि पर मानव ने जन्म लिया है तब ही से वह अपने इन्हीं दो केन्द्रों के बीच

आता जाता दृष्टि गोचर होता है। वह सदा से ही यथार्थ के एक केन्द्र विन्दु से आदर्श के दूसरे केन्द्र-विन्दु तक बढ़ता हुआ चलता चला जा रहा है। उसे आज तक न तो अपने यथार्थ से न तो पूर्ण संतोष ही मिला और न उसने अपने मनोनीत आदर्श की ओर निरन्तर बढ़ते रहने की लालसा ही खोई है।

यथार्थ से आदर्श तक के यात्रा-पथ में मानव के पद चिन्ह, कभी इधर और कभी उधर, भली तरह देखे जा सकते हैं। यही कारण है कि उसका गत कल्ल का आदश यदि आज यथार्थ बन कर रह जाता है तो कभी आज का आदर्श आने वाले कल में यथार्थ हो जाता है। इसे दूसरी तरह इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि एक आदमी अपने यथार्थ में दूसरे का आदर्श होता है और कोई अपने आदर्श में दूसरे का केवल यथार्थ ही सिद्ध होता है। यही मनुष्य की विवशता है। वह निरन्तर प्रगति-शील होकर भी यहाँ बन्दी ऐसा ही है। परन्तु विचित्रता तो यह है कि मानव इस तरह बँधा हुआ हो कर भी, अबाधगति से अनादिकाल से, बढ़ता ही चला आ रहा है तथा इसी प्रकार यथार्थ और आदर्श के बीच में बन्दी रह कर विमुक्त होकर बढ़ता ही रहेगा।

और साहित्य मानव-प्रवृतियों का, उसकी अपनी अन्तर्भावनाओं का चित्रण होता है। एतदर्थ वह भी अपनी प्रगति-हेतु इन्हीं दोनों केन्द्र विन्दुओं का आश्रय लेता है। मानव के यथार्थ जीवन और आदर्श जीवन को लेकर ही साहित्य में 'यथार्थवाद' तथा 'आदर्शवाद' का जन्म हुआ-ऐसा मान लेना असंगत नहीं दीखता। परन्तु सावधानी-पूर्वक समीक्षा करने पर युग का आदर्शवाद, यथार्थवाद के परिष्कृत रूप के अतिरिक्त और कुछ है भी नहीं। क्योंकि कोई भी साहित्यकार अपने आदर्श की कल्पना, यथार्थ के आधार पर ही तो करता है।

किन्तु यहाँ मनुष्य के आदर्श या 'जो होना चाहिए' की प्राप्ति के सम्बन्ध में जिस सरलता पूर्वक लिखा या कहा जा सकता है वह कार्य रूप में परिणत होने पर वैसा सरल नहीं रह जाताहैं। मानव-जींवन का इतिहास इस बात का साक्षी हैलवसतव में यथाथ की आदर्श में परिणित मानव का रक्त चाहती है। उसका अपरिमेय पौरुष, उसका विवेक, उसकी कार्य-दृढ़ता, बुद्धि-वैचित्र्य और अडिग क्षमता, इस क्रान्ति के आधार होते हैं।

द्वापर के श्रीकृष्ण और त्रेता के राम अपने समय में केवल यथार्थ थे। तब वे आदर्श न थे। कालान्तर में त्रेता का यथार्थ पुरुष आदर्श राम होकर जन-जन के आराध्य हुए। तुलसीदास ने श्री रामचरित मानस की रचना कर उन्हें आदर्श मानव के पूर्ण स्वरूप में खचित किया। फिर भी आज कल श्री रामचरित के उस पूर्णत्व को स्थान च्युत करने के लिए लोग कम प्रयत्नशील नहीं रहते। समाजवादी एवं साम्यवादी दृष्टि-कोण में वह त्रेता का हृदय-साम्राट् जन-जन का कल्याणकारी पुरुष-राम केवल 'राजा राम' बन कर रह गया है। ऐसे राजा राम, जिन्होंने इस वद विवादी युग की दृष्टि में केवल स्वराज्य-विस्तार एवं स्वकीर्ति-लिप्सा के कारण ही सोने की लंका को अनधिकार पूर्वक भस्मसात् कर दिया। दुराचारी रावण-वंश के दुष्कृत्यों के कारण अन्य लंका वासियों का विनाश, इन वादी जनों की सम्मति में अपराध हैं।

ऐसे ही कुछ श्रीराम की साम्राज्य वादिता के ज्वलन्त दृष्टान्त उनकी एकांगी दृष्टि में पनपते हैं। इन उदाहरणों से न तो मेरा तात्पर्य किसी वाद की विचार-धारा को चुनौती देने का है और न श्रीराम के पवित्र आदर्श को किंचित मात्र भी हानि पहुँचाने की इच्छा है। मेरा लक्ष्य तो, मानव-प्रगति सम्बन्धी उस प्रवृति

कास्पष्टीकरण मात्र है जो किसी भी राष्ट्र की संस्कृति बनकर मानव का मस्तक ऊँ ्चा करती है।

श्रीराम ने स्वतः मानव के उच्चतम स्वरूप के निर्माण करने के लिए, जनक नंदिनी सीता का परित्याग किया था और अग्नि ज्वाला में अर्पण तक का कार्य किया था; परन्तु वे स्वतः भी उस कार्य में कहां तक सफल हुए, इसे व्यक्तिगत बुद्धि के आधीन ही छोड़ देना उचित जचँता है।

इसी प्रकार अपने युग के यथार्थ को, आदर्श बनाने के लिए, ईसा ने शूली से प्यार किया और इसी आदर्श-निर्माण की ममता ने मुहम्मद को आत्मोत्सर्ग की प्रेरणा दी तथा साक्रेटीज ने भी निश्चय ही ऐसी ही धारणा से विष का प्याला स्वीकार किय,ा परन्तु ऐसे अगणित बलिदानों के पश्चात् भी विश्व, मानव जीवन को आज तक आदर्श रूप नहीं दे सका। ऐसी दुरूह और दुःसाध्य है यथार्थ की आदर्श में परिणति।

परन्तु आने वाले कल में, आज का 'जो है' क्या होने वाला है इसे यदि कोई जानता है तो वह एक साहित्यकार है और आज के इस यथार्थ भावी कल में कोई परिवर्तित कर भी सकता है तो वह भी साहित्यकार ही हो सकता है।

इसीलिए साहित्कार युग द्दष्टा भी होता है और युग स्रस्टा भी। क्योंकि वर्तमान उसके हाथ पर रखे हुए आँवले के फल की नाईं सुस्पष्ट है और जो विगत है, भूत है वह उसके अनुभव भण्डार में सुरक्षित है। साहित्य, इन्हीं दोनों पर दृष्टि रख कर अपनी प्रतिभा से अनुभव और कल्पना को मिला कर 'जो होना चाहिए' के आदर्श का निर्माण करता है। इसीलिए वह स्रष्टा है एक सफल युग निर्माता है।

साहित्यकार की गति को सृष्टि की बाह्य जड़ सुन्दरता, भयानकता अथवा विषमता उसके पथ से भ्रष्ट नहीं कर सकती। अथाह समुद्र में लहरों, भँवरों और तूफान-प्रदत्त हलचलों से लोहा लेते हुए, जिस प्रकार जल-मग्ना मीन स्वेच्छा या अबाधगति से विचरण किया करती है उसी प्रकार साहित्यकार भी विश्व की समस्त उथल-पुथल में लिप्त रह कर भी, निर्लिप्त बना रहता है एवं अपने आदर्श भी, जीवन-सत्य की खोज में निरन्तर बढ़ता ही रहता है। उसे संसारिकता प्रवाहित करके भी पथ-विमुख करने से, सदा असमर्थ रहती है।

समुद्र मंथन के पश्चात् हलाहल और अमृत की प्राप्ति हुई तथा जिस प्रकार विष पान कर, श्रीशंकर जी ने देवों को अभय दान दिया था, ठीक उसी प्रकार-साहित्यकार भी, समाज और राष्ट्र के युग प्रदत्त गरल को स्वतः पान कर सत्य के अमृत का दान देता है। हे युग निर्माता साहित्यकार, तेरी जय हो!

कला और संस्कृत

मनुष्य जन्म से ही अनुकरणशील, सौन्दर्योपासक एवं सहृदय है। वह इस प्रकृति में जो कुछ भी आकर्षक, हृदयग्राही अथवा मनोरम देखता, सुनता या पाता है उससे वह प्रभावित होता है और उसके दर्शन, श्रवण या स्पर्श से पारलौकिक आत्मानन्द का अनुभव करता है।

गुलाब के खिले हुये सुमनों की सुन्दरता और सुरभि से आकर्षित होकर मनुष्य का विहँसना और मुग्ध होकर अपने अन्तर में, उल्लास का अनुभव करने लगना, उसकी प्रकृति-प्रदत्त प्रवृत्ति की स्वाभाविकता है।

इसी प्रकार, निर्झर के निरन्तर कल-कल करते हुए नीर की मधुर ध्वनि के कर्णगत होते ही, मानव का आनन्दित हो वैसा ही कुछ गुनगुनाने लगना, तथा कोकिल के सरस स्वर में अपना स्वर, मिलाकर 'कुहू-कुहू' करने लगना उसकी अनुकरणशीलता का परिचायक है। अर्थात् वह इस पार्थिक विश्व में जो कुछ भी, सुन्दर, सरस, मधुर और आनन्ददायक अनुभव करता है उसे अपने लेने का, वह जन्म-जात अभिलाषी है। और साथ ही, उस अनभूत आनन्द को, अपने अनुभव के भण्डार में सुरक्षित रख कर आवश्यकता पड़ने पर, भविष्य में वह उसी संचित निधि से, आनन्द भी उठाना चाहता है।

एक ओर जहाँ मानव में आनन्दोपयोग की प्रवृत्ति होती है वहाँ दूसरी ओर, वह अपने सुखानुभवों को अन्य-आत्मीय व्यक्तियों पर व्यक्त करने का इच्छुक भी स्वभाव से ही होता है। इस सृष्टि में वह जो कुछ देखता, सुनता और अनुभव करता है, उसे संसार के अन्य मनुष्य या उसके आत्मीय भी देखें, सुनें, और उसी की तरह आनन्द उठायें, इसे वह हृदय से चाहता है। और इसीलिए मनुष्य अपने अनुभवों को, दूसरों पर, बोल कर, गाकर, हाव-भाव प्रदर्शित करके अथवा उसका चित्र बनाकर स्पष्ट करता है। मनुष्य की इसी प्रवृत्ति में स्वोन्नति, स्वोत्थान और स्वकल्याण के अतिरिक्त प्राणी, मात्र की कल्याण कामना का आभास मिलता है। मनुष्य की इसी प्रकृत्ति जन्य-प्रवृत्ति ने, वक्तृत्य-कला, संगीत-कला, नाट्य कला और चित्र-कला आदि अनेकानेक कलाओं को जन्म दिया है।

प्रकृति को अपने बुद्धि-कौशल, अनुभव, प्रतिभा और प्रयासों के द्वारा, 'सुन्दराति सुन्दर', सर्वाधिक मानवोपयोगी एवं महान आह्लाद कारिणी बना देना, कला का ही कार्य है।

हाथी के दाँत प्रकृति हैं। उनसे चूड़ियाँ, डब्बे तथा अनेकानेक अन्य जनोपयोगी वस्तुओं का सृजन, उन दाँतों की उपयोगिता हुई। परन्तु इन्हीं वस्तुओं को, अनेक बेल-बूटों, मणि-मणिका अथवा कंचन से युक्त कर, उनके स्वरूपों को अधिक आकर्षक और अधिक सुन्दर बना देना, कला की पटुता है।

ग्रीष्म, वर्षा और शीत से रक्षा पाने के लिए, शरीर का वस्त्रों से आच्छादन, एक आवश्यकता है। शरीर सम्बन्धी यह आवश्यकता, वस्त्रों को बिना आकृति दिये हुए भी पूर्ण हो सकती

है किन्तु सौंदर्योपासक मानव ने अपने शरीर में आवरण हेतु वस्त्रों को नाना प्रकार की आकृतियाँ दीं, उन्हें रुच-रुचकर अपनी बुद्धिमत्ता से ऐसा रूप दिया, जो उसे अधिक हृदय ग्राही सिद्ध हुआ। यथार्थ में इन्हीं वस्त्रों के निर्माण की रीति को हम कला कहते हैं। क्योंकि वे वस्त्र, हमारे द्वारा विशेष प्रकार की मनोमोहक आकृति, आँखों को अच्छा लगने वाला रंङ्ग और हृदय को आह्लाद देने वाली नवीनता पाते हैं। यहीं विशेषता वस्तु निर्माण की प्रवीणता और कार्य-कुशलता की रीति ही कला है।

इसी तरह अपने हृद्गत विचारों को, दूसरों पर व्यक्त करने के लिए बोली और भाषा का आश्रय लिया जाता है। परन्तु वे ही विचार जब हमारी भावनाओं, अनुभूतियों और प्रतिभा का बल पाकर, सरस, मधुर और अंतरस्पर्शी होकर, पाठक या श्रोता के हृदय में भी उसी प्रकार की रस-सृष्टि करने में समर्थ होते हैं तब वे साधारण न होकर, रसात्मक विचार हो जाते हैं। और इन्हीं रसात्मक विचारों को हम काव्य की संज्ञा देते हैं। विचारों की यही, भावात्मक एवं रसात्मक अभिव्यक्ति होती है कलापूर्ण।

कला का सम्बंन्ध रस, से है। और रस, आनन्द का प्राण एवं उसका जन्मदाता होता है। इसीलिए कला आनन्दमयी होती है कला का यह आनन्द क्षणिक नहीं होता। वह तो मानव को इस जड़ जगत से कुछ समय को प्रथक करके, अणु-अणु में व्याप्त, विराट् शक्ति से तदात्म्य का सुख देता है।

यहीं कला मनुष्य को मनुष्य बनाए रखकर, दैवत्व की ओर अग्रसर करती है। और कालान्तर में मानव को यह कला-आरा-

धना उसे बहुत ऊँचा उठाने में समर्थ होती है। नरकी, नारायण में परिणति, की ही कृपा है।

कला का आनन्द, शरीर के आनन्द से नहीं, अपितु आत्मा की तुष्टि से ही सम्बन्धित है। शरीर और इन्द्रियों का सुख, जीवन का सच्चा सुख नहीं होता। ऐसा सुख, वस्तु और घटना के साथ, उद्भूत होकर, उन्हीं के साथ विनाश भी हो जाता है। परन्तु कला का आनन्द चिरस्थायी एवं चिरन्तन होता है। वासना और विलास का सुख, जिसमें जीवन के विनाशी तत्व समाहित रहते हैं। मानव को पतन की ओर बढ़ने के लिए उत्साहित करते हैं। किन्तु कला का आदर्श, विनाशक नहीं, सृजनात्मक होता है।

यहाँ चित्रकारिता और कलात्मक कर्तृत्व के विशिष्ट अन्तर को भली भाँति समझ लेना भी परमावश्यक प्रतीत होता है। क्योंकि, प्रकृति की वस्तुओं का, उनके यथार्थ—स्वरूप में रूचित कर देना ही कला कारिता नहीं होती। मनुष्य, प्राणी अथवा दर्शित जड़ पदार्थों का जैसे का तैसा सृजन, कला तो कही जा सकती है परन्तु वह कला अपनी अपूर्णावस्था में होगी। और इसी न्यूनता के कारण उसे सफल चित्रकारिता कहना अधिक उचित होगा। सफल चित्रकार का लक्ष्य चित्र में दर्शित रेखाओं को जैसे का तैसा खींच देना ही होता है किन्तु कलाकार व्यक्ति के व्यक्तित्व- निरूपण के लिए, प्रयत्नशील रहता है और वास्तव में जो कलाकार व्यक्ति के सभी गुणों को उसके हाव-भावों और अन्तर वृत्तियों को अपनी कृति में, जिस बुद्धिमानी से अधिकाधिक स्पष्टता के साथ दर्शित करने में समर्थ होता है वह उतना ही महान कलाकार होता है और तब ही, कला अपने पूर्ण परिष्कृत रूप में लक्षित होती है।

बक्तृता देते हुए किसी तानाशाही प्रवृत्ति के नेता के यथार्थ चित्र में उसके उठे हुए हाथों, बँधी हुई मुट्ठियों और खुले हुए मुख के अतिरिक्त कुछ नहीं होता। यह चित्र तो उसके भाषण देने के समय की शरीराकृति का प्रतिरूप मात्र है। यथार्थ की मात्र है। यथार्थ की ऐसी स्पष्टोक्ति, कलाकारिता नहीं होती।

परन्तु जब ऐसे ही तानाशाह का चित्र किसी कलाकार के हाथों सृजन पाता है तब उसकी उस कलात्मक-कृति में यथार्थ का आधार लेकर, कलाकार सिंह ऐसी भयावह मुखाकृति, यथार्थ मानवीय नेत्रों के स्थान में घातक प्राणी के समान, वक्र, भेद-पूर्ण तथा लघु-नेत्र बनाकर, उस तानाशाह की नृशंसता, स्वार्थपरता एवं दम्भपूर्ण अहंमान्यता का निर्दशन करता है। यही कलाकार के व्यक्तित्व-निरूपण की कुशाग्रता है।

यही कारण है कि बुद्ध की उपलब्ध प्रस्तर-मूर्तियों में हमें उनके यथार्थ स्वरूप के स्थान में, उनका ऐसा कलात्मक स्वरूप देखने को मिलता है जिसे देखते ही दर्शक, उनके तपस्वी, उपकारी, लोक-कल्याणकारी जीवन और सहृदयता-पूर्ण उत्थित चारित्र्य का आभास पा लेता है।

मर्यादा पुरुषोत्तम राम का, वही सर्वोत्तम कला-पूर्ण चित्र हो सकता है जिसमें उनके विशिष्ट समस्त गुणों का समन्वय, देखने को मिल सके। यह सच है कि उनकी ऐसी कलात्मक-कृति में श्रीराम का रूप उनके यथार्थ शरीर-चित्र से कहीं अधिक भिन्न लक्षित होगा। ऐसे कलात्मक निरूपण में स्वचित नेत्र, बाहु वक्ष स्थल तथा अन्याय अवयवों की आकृति साधारण मानवों ऐसी न होकर, कुछ विचित्रता लिए हुए, हाव-भाव से पूर्ण लघु या महान अपेक्षित हैं। परन्तु इस असमानता में भी जो व्यक्तित्व की

महान एवं सफल अभिव्यंजना होगी वही सब कुछ, उस चित्र के आकर्षक, प्रभावोत्पादक, अनुभूति-पूर्ण एवं सर्वाधिक सरस-होने का आधार होगा।

और कला, संस्कृति का एक अंग है। इसीलिए हम उसे संस्कृति से प्रथक भी नहीं कर सकते। साथ ही कला से ही संस्कृति का यथेष्ठ परिष्कार होता है तथा उसके संचित भण्डार की वृद्धि भी कला की कृपा पर ही निर्भर होती है। इसलिए कला और संस्कृति का सम्बन्ध चिरन्तन है।

इस सम्बन्ध में आचार्य काका कालेल कर की उक्ति बहुत ही सुलझी हुई और बोधगम्य है। वे लिखते हैं कि "दूध प्रकृति है और उसका परिस्थिति दोष-वश फट जाना, विकृति है। किन्तु दूध, प्रयोगों द्वारा जब दही बना लिया जाता है और उस दही से मंथन के पश्चात् जब हमें मक्खन और मक्खन से घी की प्राप्ति होती है तब यह सब संस्कृति का विषय हो जाता है।" इसी तरह संस्कति उनकी सम्मति में—एक वायु मंडल है। जिसकी वायु सभी की श्वास बनकर, प्राण-प्राण को अनुप्राणित करती रहती है।"

निश्चित ही, मनुष्य ने अपने उत्पत्ति काल से आज तक जो कुछ भी अपने बुद्धि-कौशल अनुभव और प्रयत्नों द्वारा अपनी और मानव-जाति की जो उन्नति की है, वह सब मानव की संस्कृति है। हमारे साहित्य, धर्म, विज्ञान ने मानव-अनुभूतियों की प्रेरणाओं, उसके अपने पुरुषार्थ और विवेक के सहारे, जो कुछ भी संचय कर पाया है, वह सबका सब संस्कृति के भण्डार की अक्षय निधि बनकर सुशोभित है।

इसलिए हमारे सभी प्रकार के ज्ञान, सामाजिक-रीति-नीतियां, हमारी कार्य प्रणालियाँ, शारीरिक, अध्यात्मिक और बौद्धिक विचार-धारा, जो मानव के भले के लिए, उसे प्रेरणा, इंगित और शक्ति देते हैं। सब कुछ हमारी संस्कृति है। इसलिये संस्कृति मानव की उद्बोधक प्रेरक और निर्माता है। मनुष्य संस्कृति की गोद में पलकर वृद्धि पाता है और शनैः शनैः अपनी प्रतिभा के द्वारा उसे शृंगार कर अधिक समृद्धिशाली बनाता रहता है।

धर्म और साहित्य

जिस धर्म का नाम सुन कर, आज हम में से अनेक चौंक पड़ते हैं। जिस शब्द के कर्ण-गत होते ही कतिपय व्यक्तियों का समस्त ज्ञान उसकी स्पर्शक-कल्पना-मात्र से, अपने पावन शरीर को अस्पृश्य रखने के लिए, जैसे एकाएक सचेष्ट हो उठता है, जिसे हम आज न तो फूटी आँखों देखने के विश्वासी ही बनना चाहते हैं और न जिसे अंगीकार करने के लिए, आज हमारा मन ही किसी प्रकार तैयार होता है, वही—धर्म विगत कल तक, हमारे समस्त जीवन का सृष्टा एवं दृष्टा बना हुआ था। यह मानव उत्कर्ष, उसके विकास और उसकी मुक्ति का संदेश ही नहीं; अपितु आदेश लेकर, हमारे जीवन पर जैसे पूर्ण नियन्त्रण रखता है।

मानव ने अपने प्रारम्भिक काल में जब ज्योतिदाता सूर्य की, जीवन उपयोगिता का ज्ञान पाया और जैसे ही, उसे नतमस्तक हो अपनी श्रृद्धा एव विश्वास द्वारा, हार्दिक कृतज्ञता प्रदर्शित करने की इच्छा की, वैसे ही धर्म ने मानव की उस सहानुभूतिमयी ममता को, अपने शास्त्र के पृष्ठों में लिख रखा और उसके बाद आने वाले, जन-वर्ग को, उसने सूर्य को 'देव' कहकर सम्बोधित करने का, उसकी पूजन और अराधना का आदेश दिया। इस तरह सूर्य, जड़ सूर्य न रह कर, सातश्वेत हयों के रत्न मंडित रथ पर आरूढ़ होकर, गगनचारी सूर्य देव बना।

इसी प्रकार जलदाता मेघों की उपयोगिता ने जब मानव के विश्वास और उसकी करुणा को जीता तब मनुष्य अपने विनयी स्वभाव इन्द्र भगवान का अवतार हुआ। यह सब भी धर्म के शास्त्रों में एक अध्याय बन कर रहा।

भारत में लक्ष-लक्ष और कोटि-कोटि देवों के प्रादुर्भाव में मानव की इसी कृतज्ञता पूर्ण प्रवृत्ति का आधार है।

जब जब मनुष्य ने अपने अनुभव, पौरुष, प्रतिभा, तथा बुद्धि-कौशल के द्वारा, प्रकृति-जन्य अनेकानेक शक्तियों का ज्ञान पाया, तब-तब मानव-मात्र की कल्याण-भावना से प्रेरित होकर, उन सभी सम्भावनाओं को, यथार्थ और आदर्शों को अपने, आदेशों के साथ पाषाण में मूर्त करके सँजो रखा।

यह सच है कि धर्म की इस कृति में, एक मात्र लोक-कल्याण लोक-निर्माण एवं जन-हितैषिता की भावना, पूर्ण रूप से समाहित थी। धर्म ने हर सम्भव दृष्टिकोण से, यही इच्छा की थी कि, उसकी यह समस्त संचित निधि, प्राकृतिक शक्तियों का वह पाषाणी मूर्त-संकलन, जनता के लाभार्थ, एक सुरक्षित कोष के रूप में उसके पास रहे।

पर यही—धर्म—अनेकाताओं में फँसा और जब वह उन सब को यथा-विधि सम्हाल सकने में असमर्थ हुआ तब उसमें अनेक ऐसे अहितकरी व रूढ़िवादी तथ्यों का समावेश हो गया जो कालान्तर में धर्म की नींव को खोखला करने के साधन बने। यद्यपि धर्म ने सदा ही लोक-कल्याण की भावना को दृष्टि में रख कर, आने वाले मनुष्य को आँख बन्द कर, अपने आदेशों के अनुसार बिना सोचे-विचारे कार्य करने के लिये, कहा, परन्तु उससे

लोक का यथार्थ कल्याण न हो सका! इसी ध्येय को सामने रखकर, और लोग अधार्मिक कार्यों की ओर अग्रसर न हों, धार्मिक शास्त्रों ने पाप-पुण्य को जन्म दिया। साथ ही अपने निर्देशों की सफलता के लिए उसे पाप की वेदनामयी भयानकता का चित्रण भी करना पड़ा जिसके फल स्वरूप धर्म में चौरासी लक्ष योनियों का अवतार मानव-जीवन के क्रमिक विकास के साथ पनपा! और इन योनियों की यातनाओं-प्रतारणाओंमयी गाथा का, भारतीय घर-घर में जाकर ढोल बजा-बजा कर ढिंढोरा पीट कर यह कामना की, कि सर्वसाधारण, अधार्मिक कृत्यों से सदा के लिये मुँह फेर लें और पाप की ओर कभी भी अग्रसर न हों। इस तरह मनुष्य को अपनी ओर से विमुख न होने देने के लिये, एक ओर धर्म ने पाप का कलुषित, भयानक, वेदनापूर्ण चित्र खचित कर सर्व-साधारण को सचेत किया तो दूसरी ओर उसे पुण्य के सफल की तृष्णा भी दी। और मानव—हृदय में यह भली तरह प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया कि पुण्यात्मा इहलोक में तो सुखी रहता ही है वह परलोक में भी मोक्ष पाकर संसारी आवागमन के विषाद-मयी जीवन से हमेशा के लिये मुक्ति पा लेता है। स्वर्ग-प्राप्ति की यह तृष्णा आज भी व्यक्ति-व्यक्ति में, किसी न किसी मात्रा में देखने को मिलती है और इस प्रकार धर्म अपनी पूर्ण शक्ति, अनुभव तथा साधनों सहित, भारत के मानव-जीवनका प्रेरक उद्बोधक, नायक, प्रणेता तथा गुरु न जाने क्या-क्या नहीं, अपितु सब ही कुछ बन बैठा।

परन्तु इतना सब कुछ होने पर भी परिणाम नितान्त उल्टा ही हुआ। क्योंकि एक धर्म का अकेले मानव जीवन इतनी अनेक-ताओं को एक साथ सम्हालते हुए चलते चले चलना ही दुस्साध्य हो गया, दूसरे वह स्वतः उनमें कुछ ऐसा फँस गया, कि उसका अपना

त्राण ही असम्भव प्रतीत हो गया। उसके आदेश मंदिरों की चहार दीवार के भीतर प्रतिष्ठित पाषाणी मूर्तियों में जैसे के तैसे खचित रह गए और उनमें जड़ता आगई। क्योंकि धर्म के इस कार्य में मानव की अन्तर्भावनाओं, उसकी सम्भावनाओं, उसकी अनुभूति और जिज्ञासा की स्पष्ट अवहेलना की गई। उसकी मनोभावना का तिरस्कार किया गया। मनुष्य धार्मिक तो बना, परन्तु उसके जीवन में रूढ़िवादिता और अंधविश्वास के प्रति स्नेह भी आगया। जब उसकी अन्तर-अनुभूतियाँ, धर्म के कठोर अनुशासन में शासित हुई तब मनुष्य की बुद्धि निष्क्रिय होगई तथा वह एक पूजक और आराधक की नाई, जीवन बिताने लगा। उसका अपना जीवन ध्येय ही एक मात्र विनत समर्पक ऐसा हो गया। आत्म-विश्वास, आत्म-बल और आत्म-चिन्तन तो उसने जैसे खो ही दिया। और ऐसी दशा में अधार्मिक, अमानुषीय तथा निरीश्वर-वादिनी शक्तियों के समक्ष जीते जी हार खानी पड़ी। मूर्ति-पूजकों और मूर्ति विनाशकों में तलवारें तो चलीं पर विजय ने कर्मवीर एवं विचारक के गले में जयमाला पहनाई। केवल पूजकों और निराभक्तों से तब कुछ करते न बना।

विदेशों में भी धार्मिक-भावना का स्त्रोत निरन्तर और अबाध गति से निसृत होता रहा है परन्तु वहाँ की धार्मिकता का सूत्र-पात भारतीय सनातन धर्म की नाई मनुष्य के क्रमिक जीवन विकास पर आधारित नहीं रहा। वहां के धर्म, अपने युगीन किसी महा मानव को, आदर्श मानकर, उसकी आज्ञा और आचरण को, लक्ष्य मानकर, आगे बढ़ते आये। ईसा मसीह और पैगम्बर मुहम्मद इसके जागृत प्रतीक हैं। इन महापुरुषों ने अपने युग में प्रचलित अनैतिकताओं, रूढ़ियों, समाज विघाती-तथ्यों और

लोकहारी-कुप्रवृत्तियों के विनाश हेतु, अन्याय और अनाचार के प्रतिकार के लिए अपने जीवन-सुखों को तिलांजलि दी और इस तरह अपने आत्मोत्सर्ग, त्याग, साहस, सहृदयता, सरलता तथा करुणा के कारण, उस युग के मनुष्यों में महा मानव की संज्ञायें पाईं और वे सर्व साधारण मनुष्यों की दृष्टि में ईश्वर-दूत माने गये। उनकी कार्यप्रणाली उन्हीं के आदेशों पर एक विशिष्ट धर्म के रूप मानली गई।

परन्तु इतना सब कुछ होने पर भी, ये धर्म, देश और काल विशेषताओं या विचार संकीर्णताओं से मुक्त नहीं हो सके। साथ ही प्रत्येक धर्म ने, मोहान्धभावना बलवती बनाकर सभी को अपने एक ही झण्डे के नीचे खड़े रहने का जो आदेश दिया वह भी विस्मरणीय नहीं। यथार्थ में यही मानव भावना के विकास ने, सीमा पाई। मानव का ज्ञान, शास्त्रों तथा धार्मिक-योजकों की कठोर आज्ञा के कारण, जैसे पंगु ही हो गया यही कारण है कि सनातन धर्म को छोड़कर संसार के अन्य धर्मों ने, मनुष्य को, संस्कृति और अंतर्भावनाओं के विकासोन्मुखी पथ पर, अग्रसर होते रहने के लिए, यथोचित् बल नहीं दे पाया।

परिणामतः मानव जीवन का काल्पनिक प्रेरक, उद्बोधक एवं निर्माता धर्म, अनेक अमान्य, अग्राह्य, संकीर्णता तथा रूढ़ि-वादिता के कारण लोक-हितैषी न रह सका और उसका अपना वह महल, जिसमें वह स्वतः सुरक्षित रह कर अमर होने का विश्वासी था, खड़ा न रह पाया। वह सर्व साधारण के हृदयासन से च्युत हो गया और तब उस धर्म का स्थान आज संस्कृति ने लिया।

साहित्य का आधार वाणी है। वह धर्म की तरह मानव-जीवन के क्रमिक विकास पर निर्भर नहीं है। और न वह धर्म की तरह मानव को अपने कठोर आदेशों का चिरअनुयायी समझ कर उसकी गति का ही सीमा देता है। साहित्य तो, उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द जी के शब्दों में जीवन की आलोचना ही हो सकता है। इसी को यदि हम इस तरह भी समझ लें कि मनुष्य का और मनुष्य जाति का भाषा-बद्ध या लिपि बद्ध ज्ञान ही साहित्य है—तो अत्युक्ति न होगी।

साहित्य ने तो सदा ही धर्म के मानवीय, ग्राह्य एव लोकोपयोगी तत्वों को बल दिया है। वह सत्य का चिरसाथी है। उसे निर्माण से सम्बन्ध है। सृजन उसका लक्ष्य है। लोक-कल्याण उसका ध्येय है। इसलिए जब जब धर्म ने सत्य की खोज के लिए पैर बढ़ाए, साहित्य उसके कन्धों से कन्धा लगाकर आगे बढ़ा। जब जब धर्म से जीवन-सृजनता को जीवन मिला, साहित्य अपनी सम्पूर्ण शक्ति से उसका आधार बना और जहाँ-जहाँ लोक-कल्याण के लिए, धर्म ने उत्सव मनाये, साहित्य वहाँ-वहाँ अपने शंख-घड़ियाल के सहित, प्रोत्साहन के लिए आ उपस्थित हुआ। परन्तु रूढ़िवादी धर्म से, समाज विनाशक धर्म से, जीवन को गतिहीन बनाने वाले या मानव को अंधविश्वास के बन्दी-गृह में बन्द रखकर उसे परावलम्बी, निक्रिष्य और दम्भी बनाने वाले धर्म से, साहित्य का कभी कोई नाता नहीं रहा।

राम की विचार सृष्टि में जिस प्रकार अत्याचारी रावण का कोई अस्तित्व नहीं, कृष्ण की कर्म-भूमि में शोषक एवं पाषाण-हृदय कंस का कोई महत्व नहीं, ठीक उसी प्रकार साहित्य में, लोकहारी, पथ-भ्रष्ट और जड़-धर्म को कोई स्थान नहीं। धर्म

ने जब भी अपने आदेशों की, मिट्टी और पत्थर में प्राण-प्रतिष्ठा करके, मनुष्य की प्रेरणाओं. उसके पौरुष और बुद्धि-कौशल को, निश्चेष्ट तथा अपना दासानुदास बनाया, मानव सम्भावनाओं को पाषाणी जड़ता दी, वैसे ही साहित्य ने, मनुष्य की आँख खोली। जबजब धर्म ने हमें संकीर्ण विचारों एवं अस्पृश्यता का विषपान करने के लिए आदेश दिया और मानव-जाति को अनेकानेक भागों में विभाजित करने की कामना की तब-तब, साहित्य ने उस विष के घातक परिणाम का भंडा फोड़ किया और हमें विनष्ट होने से बचाया। जब धर्म ने हमें, शैव, वैष्णव और रामानन्दी बनाकर खण्ड-खण्ड कर देने का प्रण किया और हमारी ममता का गला घोंट कर हमें निस्पृह एवं कठोर हृदय बनाना चाहा, तब ही साहित्य ने तुलसी तथा कबीर ऐसे महा-पुरुषों के कण्ठ में बैठकर, सचेत किया और हमारी जीवन रक्षा की।

इस प्रकार यदि धर्म, मानव जीवन को सीमा देता है, हमारी सम्भावनाओं और अनुभूतियों को बाँध कर गतिहीन बनाता है हमें अंधविश्वासों और रूढ़ियों की चहार दीवारी में बन्द कर, अनन्त विश्व के दर्शनों से वंचित रखने की कामना करता है। हमारी बुद्धि, अनुभव और शक्ति को अपनी मुट्ठी में रखकर, हमें अपने संकेतों पर चलते रहने की आज्ञा देता है तो दूसरी ओर साहित्य हमें जड़ता, रूढ़िवादिता, अकर्मण्यता तथा संकीर्ण हृदयता के अंधकूप से श्रीकृष्ण बन कर निवृत्ति देता है तथा सत्य से साक्षात् कराने में समर्थ होता है। और इस प्रकार

क्षुद्रता से ऊँचा उठाकर, अलौकिक आत्म विभोरता का दान, साहित्य का चिरन्तन ध्येय रहा है। इसीलिए धर्म गतिहीन है। अचल है केवल निर्देशक और संकीर्णभावना का उद्‌बोधक है. तो साहित्य, प्रतिपल गतिवान है, निर्विकार है. विचारक है, साधक है, उदार है, और है जन-जन का कल्याणकारी, 'वसुधैव कुटुम्बकं' के मन्त्र की दीक्षा देने वाला जगद्‌गुरु। वह सत्य है, शिव है, और सुन्दर है।

विज्ञान और साहित्य

ज्ञात का अर्थ है जानना। किन्तु इस जान लेने में, ज्ञान की पूर्णता नहीं होती। किसी वस्तु ज्ञान, उसकी साधारण ज्ञातव्यता का द्योतक होता है। प्रकृति के सभी पदार्थों को, हमें अपनी ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से जानते हैं। ज्ञानेन्द्रियों द्वारा, प्रकृति सम्बन्धी प्राप्त यह ज्ञान केवल साधारण ज्ञान होता है। सूर्य को देख कर और वायु को स्पर्श से जान लेना, मानव का सूर्य और वायु सम्बन्धी प्राथमिक ज्ञान है। मानव ने पेड़ पत्थर पानी और मिट्टी संबंधी जो भी ज्ञातव्यता अपने प्रारम्भिक जीवन में पाई वह इन वस्तुओं से सम्बन्धित उसका अपना साधारण ज्ञान हुआ।

परन्तु मानव बुद्धि-जीवी प्राणी है। उसने प्राकृति की दृश्य अदृश्य वस्तु को देखकर, सुनकर और स्पर्श करके जितना कुछ जाना, वह उससे सन्तुष्ट नहीं हुआ। जब वह दृश्य और श्रव्य वस्तुओं की मधुरिमा से प्रभावित हुआ तब उसने उन पदार्थों को और भी अधिक पास से देखने का प्रयास किया। वह उन्हें भली तरह समझ लेने के लिए ललायित हो उठा। प्रभात-कालीन गगन सौन्दर्य ने उसे मुग्ध किया। बिहँसते हुए प्रसूनों ने उसके ध्यान को अपनी नेत्र प्रिय छटा की ओर हठात् आकृष्ट किया। बन उपवनों में चहचहाते हुए, पक्षी, दल के संगीत ने उसके हृदय को एक अलौकिक आनन्द की भेंट दी और चूँकि वह स्वभाव से ही

जिज्ञासु होता है इसलिए इस दृश्य-विश्व की, इन आकर्षक मनोहर और प्रभाव-पूर्ण वस्तुओं में समाहित विशेषता अथवा रहस्य को जानने के लिए प्रयत्नशील हो उठा। परिणामतः उसने इस पार्थिव जगत के इन उपलब्ध पदार्थों को बुद्धि के सहारे अधिकाधिक समझने के लिए प्रयत्न किया। कालान्तर में अपने अनेक अनेक विश्लेषणात्मक प्रयोगों द्वारा जो कुछ प्राप्त किया वह आज वैज्ञानिक आविष्कारों के रूप में हमारे समक्ष है।

मानव वर्षा-कालीन मेघों की दृश्य विद्युत को देखकर पहले पहल आश्चर्यान्वित हुआ उसकी आँखें चका चौंध से भर गईं उसने उसे अनेक बार देखा और अनुभव किया। और अपनी जिज्ञासु प्रवृत्ति के कारण उस विद्युत के यथार्थ स्वरूप और कारण को समझने के लिए मानव ने बुद्धि-जन्य प्रयोगों का आश्रय लेकर अनेकानेक परीक्षण किये। मनुष्य के उन्हीं प्रयासों का परिणाम विद्युत सम्बन्धी सुखद-दैन विश्व के सामने है। यथार्थ में आकाश में दृश्य उस विद्युत की, भूमि-वासिनी विद्युत माला के रूप में परिणति विज्ञान का विषय है। यह विद्युत का साधारण ज्ञान न हो कर विशेष ज्ञान या विज्ञान हुआ।

इसी प्रकार दूरस्थ जंगल में दहाड़ते हुए, सिंह का गर्जन जब मनुष्य को नदी के तीर पर ही सुनाई पड़ गया और वन प्रान्त में निरन्तर निसृत होते रहने वाले निर्झर की कल-कल ध्वनि ने उसे बहुत दूर से ही प्रवाहित किया तब उसके मन में यह विश्वास दृढ़ हुआ कि ध्वनि को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने का कार्य वायु की कृपा पर निर्भर है यह ज्ञान होते ही वह यथार्थ सत्य की खोज के लिए प्रयत्नशील हुआ तथा उसी के परिणाम-स्वरूप वेतार के तार व ध्वनि–प्रसारक–यंत्र आदि को



जन्म मिला और तब ही सैकड़ों क्यों हज़ारों मील दूर स्थित व्यक्तियों का वार्तालाप सुगमता से सम्भव हो सका।

इस तरह मनुष्य का साधारण ज्ञान विशुद्ध बौद्धिक ज्ञान अथवा विज्ञान के रूप में हमारे समस्त आया, ज्ञान ने जहाँ इस जड़ जगत के साथ मानव को पदार्थों का साधारण परिचय दिया, वहाँ विज्ञान ने बुद्धि के बल से सत्यान्वेषण किया। किन्तु पदार्थों के इस निर्जीव विश्लेषण में विज्ञान के हाथों जगत को जिस सत्य के दर्शन हुए, वह पूर्ण सत्य न होकर अपूर्ण सत्य ही रहा। यह सच है कि मनुष्य के इन विश्लेषणात्मक क्रिया कलापों और विज्ञान सम्बन्धी अनुसान्धनों का उद्देश्य, समस्त विश्व में व्याप्त किसी महा शक्ति से तदात्म्य पाने की लालसा ही दिखाई देता है। अनादि काल से आज तक उसकी अनुभूति-गति को देखकर यह भली तरह समझा जा सकता है कि वह अपने बौद्धिक प्रयोगों के सहारे पूर्ण सत्य की खोज में ही निरत है। परन्तु विज्ञान अपने इस पुण्य कार्य में अभी तक सफलता प्राप्त नहीं कर सका। उसने जो कुछ भी पाया, वह पूर्ण सत्य नहीं हो सका। उसका यह प्राप्य सत्यांश कितना ही महत्वशाली क्यों न हो पूर्ण सत्य का एक अंश ही होगा क्योंकि विज्ञान-प्रदत्त सत्यांशों से मानव की नित्य की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सकना सम्भव हुआ है।

रेल और यान के विज्ञानी दान ने मानव के समय की रक्षा की, उसकी कष्टसाध्य यात्रा को सुलभ किया, शारीरिक-श्रम को न्यूनता दी तथा इस तरह शिथिल पगों को वायु ऐसी तीव्र गति देकर मानव-जीवन को विस्तार दिया।

परन्तु इस सत्यांश प्राप्ति से मानव की अनेकानेक आवश्यकताओं में से केवल एक आवश्यकता की पूर्ति ही हो

सकी। इससे जो संतोष हुआ वह चिरन्तन नहीं क्षणिक सुख ही हुआ। मानव की इस इच्छा तृप्ति का उसकी मनः तुष्टि से कोई सम्बन्ध नहीं।

टेली विजन, चलचित्र, ध्वनि-प्रसारक-यंत्रों तथा और भी अन्याअन्य विद्यु त अविष्कारों ने मानव-जाति की भलाई के लिए जो कुछ किया है निश्चय ही वह प्रशंसनीय है और इस उपकार हेतु मानव विज्ञान का चिर ऋणी भी रहेगा। यह विज्ञान की मानव उपयोगिता का एक दृष्टि कोण है।

परन्तु जब हम विज्ञान को उसके अन्य दृष्टि कोण से देखते हैं तब हमें दुखी होकर निराश होना पड़ता है। क्योंकि जहां विज्ञान ने आवागमन के साधनों की सृष्टि करके मानव के समय की रक्षा कर, उसके मूल्यमें वृद्धि की है वहाँ उसे शरीरिक शिथिलता और अकर्मण्यता का विष भी विज्ञान के हाथों मिला है। हम इस कटु सत्य को मानने से इन्कार नहीं कर सकते। मानव इन वैज्ञानिक सुभीतों को पाकर दिन प्रतिदिन कर्म-हीन और आलस्य की ओर आकर्षित होता जा रहा है। उसको दीर्घ जीवनी शक्ति को विज्ञान के इन सुगमताओं के कारण जैसे घुन ही लग गया है। सुखोप-भोग और आराम के नये नये उपादानों ने मनुष्य को चारीत्र्यवान और कर्मठ होने की अपेक्षा कामुक और वासना प्रिय कहीं अधिक बनाया है। वह इन सभी मोहक, आकर्षक और शारीरिक सुखदात्री वस्तुओं को पाकर विलासी तथा वाह्याडम्बर-प्रिय होता चला जारहा है। इस प्रकार साधक, सहायक और शुभचिन्तक विज्ञान ने जैसे मानव का दृष्टि कोण ही बदल दिया है। वह विज्ञान के हाथों जिस उपयोगिता वाद के

साथ ही साथ आत्मानन्द की प्राप्ति-कामना लेकर आगे बढ़ा था यथार्थ में, उसकी वह पावन इच्छा अपूर्ण ही रह गई है और आज मानव लोक-कल्याण और उसके पुनर्निमाण का ढिंढोरा पीट कर, स्वकल्याण, स्वोत्थान तथा स्वनिर्माण का ही विश्वासी रह गया है।

नवीन-नवीन घातक-शास्त्रास्त्र का नित्य-प्रति निर्माण मनुष्यों की इसी संकीर्ण-हृदयता और हिंसक-मनोवृत्ति का ही तो परिचायक है। अणु-बम और कीटाणुबमों के आविष्कार से मनुष्य को स्वरक्षा के आश्वासन की अपेक्षा, अपने विनाश का भय ही अधिकमात्रा में मिला है। यही कारण है कि इस वैज्ञानिक युग में भी मानव को उसका जीवन यापन एक समस्या बनकर, उसे सुख की नींद नहीं लेने देती। जीवन के इस गरल को पान करने के लिए, एक साहित्यकार ही है जो शिव बनकर सामने आ सकता है और स्वार्थ दम्भ लिप्सा, संकीर्ण-हृदयता व द्वेष के विष को पीकर, लोक-कल्याण के लिए नवीन पंथ का सृजन करने में समर्थ हो सकता है। क्योंकि साहित्य, अनुभूत-सत्य की तरह अनुभूत-प्रकृति को भी व्यक्त करने का एक साधन है। जहाँ प्रकृति का स्थूल स्वरूप बुद्धि के द्वारा विज्ञान बनता है और मनावीय आवश्यकताओं की पूर्ति करता है वहाँ मन के द्वारा, प्रसूनों, कलियों प्राकृतिक दृश्यों के रंगो की मोहक प्रेरणा जीवनी शक्ति की वाहिका बन जाती है। और तब मनुष्य का ध्यान, पदार्थों के वाह्य किन्तु नीरस स्वरूप तक ही केन्द्रित नहीं रह जाता। वह तो उन पदार्थों के गुण, उनकी सुषमा, सौन्दर्य और सुरभि की तरह केन्द्रित होकर जिस अनुभूति की सृष्टि करता है वह हमारे प्राणों का एक अँग बन जाता है। विज्ञान सत्यांश

की प्राप्ति कर, उससे बुद्धि द्वारा, शारीरिक-सुखों की नवीन सृष्टि करता है। वहाँ साहित्य, उन पदार्थों के साक्षात् से, मानव-मन में उद्भूत आनन्द को, संग्रह कर रखने का विश्वासी है। वैज्ञानिक का लक्ष्य जहाँ, नवीन सृष्टि कर, मानव को चमत्कृत कर देना दिखाई देता है वहाँ साहित्यिक मानवता के भेदों को नगण्य करके मानव मात्र में समानता के भाव को बन्धुत्व की भावना को और स्वाभाविक मानवीयता की स्वीकृति को, पुष्ट करता है। युद्ध प्रेमी, स्वार्थी और मत्स्य-न्याय-प्रिय संसार में जहाँ मानव और मानव के बीच ही में भेद भाव की महान खाई है और मानव की संरक्षणता में, जहाँ मानव को ही श्वास लेना दूभर हो रहा है, सच्चा साहित्य कार स्वजाति की इस दुर्दशा से दुखी हो। उठता है और बिना किसी भेद-भाव अथवा तिरस्कार के सम्पूर्ण मानव जाति को अपने हृदय में स्थान दे देता है। वह एक दीपक की तरह स्वतः के जीवन-सुखों को ज्वाला को समर्पित करके, मानव जगत के हृदयान्तर्गत, प्रतिष्ठित अज्ञानांधकार को नष्ट कर, मानव को यथार्थ बन्धुत्व एवं उत्थित मानवता का सत्य तो दिखाता ही है, साथ ही पूर्ण सत्य से तदात्म्य करा देकर, पार लौकिक आनन्द का अपूर्व दान भी देता है। जिस से मनुष्य को इस संघर्ष मयी जीवन से मुक्ति मिलती है और आत्मा को चिरशान्ति।

वर्तमान युग का ज्ञान, केवल प्रयोगात्मक है। इस ज्ञान में कोई स्थिरता नहीं है और इसीलिए ज्ञान या विज्ञान ने मानव-जाति का यथोचित भला नहीं किया है। यदि विश्व केसमस्त ज्ञान की ओर आँख उठाकर देखें, तो हमारे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहता है। पत्थर और मिट्टी की मूर्तियाँ बनवा कर, मानव की सगुण-

त्मक प्रवृत्ति को उद्बोधन देने वाला भी ज्ञान है। सगुणोपसाना को निरर्थक सिद्ध कर निगुर्नात्मक कल्पना का दाता भी हमारा ज्ञान ही है। यदि धर्म और भगवान के नाम पर, मानव-हिंसा की प्रेरणा, मानव ने ज्ञान के द्वारा पाई है, तो इसी ज्ञान ने हमें सत्य और अहिंसा को जीवन का महान आदर्श बताकर वसुधैव कुटुम्बकं पाठ भी पढ़ाया है।

यह ठीक है कि प्रयोगात्मक ज्ञान का होना ज्ञान की लघुता नहीं है किन्तु मानव, ज्ञान और अज्ञान के जाल में सदा से इतना उलझ गया है कि उसे उस से मुक्ति, एक समस्या बन बैठी है। ज्ञान और विज्ञान ने मनुष्य के मन पर जैसे पर्दा डाल रखा है। बुद्धि और विवेक के व्यापार में मानव को अपने मन की तुष्टि का ध्यान विस्मृत होता जा रहा है। इस प्रवृत्ति में मानव-जाति की कल्याण कल्पना के दर्शन, प्रत्यक्ष रूप से नहीं होते। इसलिये विश्व का कल्याण और मनुष्य की मुक्ति, उसकी यथार्थ मनः तुष्टि मानव-मन के प्रेम, उसके विस्तार और मानव के सभी रूपों की स्वीकृति के साथ आध्यात्मिक मूल्यों पर, जीवन के निर्माण पर ही सम्भव है। और यह महत् कार्य ज्ञान विज्ञान या धर्म की सामर्थ्यकेबाहरकी बात है। इस हेतु समस्त मानव-जाति को अपने हृदय को विस्तृत कर, बन्धुत्व की भावना को जीवन देना होगा। साहित्य इसी पुनीत उद्देश्य को सामने रखकर, कल्याणकारी निर्माण पंथ पर, चलता चला आ रहा है। इसलिये संसार के हितार्थ एवं उसके पुनर्निर्माण के लिये, हमें साहित्य को माध्यम बनाकर, मानव-प्रेम के दीपक को, घर-घर में प्रकाशित करना होगा।

साहित्य और मानव-जीवन

संसार के साहित्य-मनीषियों द्वारा, साहित्य को जो विभिन्न परिभाषायें दी गई हैं उन सब के समीक्षण और अध्ययन के पश्चात् यही निष्कर्ष निकलता है कि साहित्य का सीधा सम्बन्ध मानव-हृदय से है। वह एक ऐसी रचना है जो लेखक की स्व सृष्टि विधायक अनुभूति के समान ही, पाठक के मन में भी ठीक वैसी ही अनुभूति का जागरण करती है। इसलिये साहित्य व्यापक-दृष्टि से; मानव-जीवन का और केन्द्री कृत रूप से, मानव-मन का चित्रण होता है।

प्रत्येक व्यक्ति का, इस इतर सृष्टि के साथ, एक विशिष्ट सम्बन्ध है। इसी सम्बन्ध के कारण, उसके मन में परिस्थिति और काल के अनुसार, जो एक स्पन्दन होता है और उस स्पन्दन के परिणाम स्वरूप, उसके मन में जो अनेकानेक गति विधियाँ, मुद्रायें उसके स्वप्न, उसकी लक्ष-लक्ष आकांक्षायें परिलक्षित होती हैं, वे सभी साहित्य की द्योतक हैं। अन्य शब्दों में, इस पार्थिव जगत एवं प्रकृति के कणों पर, दौड़ती फिरने वाली, सृष्टि के संदर्भों में मानव-मन की क्रियाओं, प्रक्रियाओं, एवं प्रति-क्रियाओं का लिपि बद्ध समुच्चय स्वरूप ही, साहित्य है। अपने प्रकृत तथा धारित, संस्कृत एवं विकृत, साथ ही सुन्दर और असुन्दर, मन के ये सभी स्वाभाविक स्वरूप, सम्पूर्ण स्पन्दन, साहित्य के उपकरण एवं प्रधान तत्व हैं।

साहित्यकार अपनी अभिरुचि और आवश्यकता के अनुसार मन की इन्हीं विभिन्न मुद्राओं में से, कुछेक का ही निर्वाचन कर, मानव-जीवन के अगणित स्वरूपों की अभिव्यक्ति का प्रयास करता है। मानव-मन के समस्त स्पन्दनों अथवा संदर्भों का लेखा-जोखा, किसी एक कलाकार की सामर्थ्य और शक्ति के बाहर की बात है। वह तो अपने प्रत्यक्ष और वर्तमान से, अपनी प्रतिभा के अनुसार, विशिष्ट स्थलों का चुनाव करता है और उन में से कुछेक में मार्मिकता, रस तथा हृदय को प्रभावित कर देने वाले तत्वों का समावेश ही उसका लक्ष्य होता है। वह सदा ही रस के उद्देश्य को दृष्टि में रखकर एवं पूर्ण चित्र के निर्माण की कल्पना करके, अपने आदर्श शिव का, सत्य का स्वरूप दे, उसमें सौंदर्य का सन्निवेश करते रहने का अभिलाषी होता है। साहित्य की कृति में पूर्णता की अपेक्षा होती है। क्योंकि मार्मिक से मार्मिक स्थिति की ओर इंगति कर देने से ही, मानव-मन का स्पन्दित हो जाना सम्भव नहीं है। इसलिए सफल साहित्य कार नित्य ही इस हेतु प्रयत्नशील रहता है जिससे उसकी अभिव्यक्ति द्वारा, वीणा के तारों को स्पर्श कर देने की तरह, मन में एक स्वर, जागृत हो उठे, एक नवीन सृष्टि हो, और ऐसी रसात्मक लहरों का आविर्भाव हो, जो पाठक के जीवन तत्वों को जागृत दे, उसे कुछ समय के लिए इस इतर विश्व से अन्यत्र किसी एक ऐसे स्वर्ग क्षेत्र में ले जाने में समर्थ हो, जहाँ वह अलौकिक आनन्द का अनुभव कर, आत्मविभोर हो उठे तथा क्षण भर को अनुभूति-हीन ऐसा ही बन जाय।

यथार्थ में, पाठक के मन को स्पर्श कर तथा उसमें भावों एवं अनुभूति को ऐसी सजीव रेखायें खचित कर देना, जो एक

स्पन्दित साथ ही, रागात्मक सृष्टि कर डालें, साहित्य की अपनी विशेषता है। और वास्तव में ऐसे सौंदय की सृष्टि कर सकने की समर्थता ही, साहित्य की सार्थकता भी है। साहित्य की यही विशेषता, मानव-जीवन के उद्बोधन, उसकी प्रेरणा उसके उत्थान और निर्माण का आधार होकर, उससे पूर्णतः सम्बन्धित होती है। क्योंकि जहाँ साहित्य, मानव-जीवन का उद्बोधक प्रेरक और निर्माता है, वहाँ मानव-जीवन भी, साहित्य की रस-राग सम्बन्धिनी क्षमता का प्राण है। यही कारण है कि साहित्यकार, मानव-मन को मध्यस्थ कर, जीवन के लघु या महान चित्रों को, हमेशा से ही, शब्द-बद्ध करता चला आ रहा है। यथार्थ में इन्हीं शाब्दिक झाँकियों में, जीवन की सार्थकता और सामर्थ्य, उसकी सुन्दरता का सत्य बन कर, दर्शित होती हैं। अतः महान मानवता से, जिन अनेक, साथ ही भिन्न-भिन्न, कामनाओं, भावनाओं, कल्पनाओं, रूपों, व्यापारों कर्तृत्वों और स्वप्नों की अभिव्यक्ति होती रहती है, उन सबको साहित्य कार अपने बुद्धि-कौशल द्वारा निरन्तर निर्झरित होती रहने वाली, जीवन की सौंदर्य मयी निर्झरिणी के रूप में स्वचित करता है। इस तरह संसार की किसी भी भाषा का साहित्य-मंदिर मानव-जीवन के कणों से निर्माण और शृंगार पाता आ रहा है। क्योंकि कल्पना, कितनी ही महान क्यों न हो, वह मानव सम्भावना के अंतरिक्ष को भेद कर, उस पार जाने की सामर्थ्य ही नहीं रखती। और इसलिए, मानव-हृदय की स्वीकृति तथा उसके योग की अपेक्षा, साहित्य के सौंदर्य के लिए, नितान्त आवश्यकीय है।

मानव-हृदय की उपयोगिता एवं महानता के मूल्यांकन हेतु, यदि हम, मानव-हीन-सृष्टि के स्वरूप की कल्पना करें, तो निश्चय

ही आज की यह, मनोरम एवं आह्लाद कारिणी वसुन्धरा, मानव जाति के अनस्तित्व के कारण, स्तब्ध, सूनी-सूनी और हाहाकार मय के अतिरिक्त कुछ अधिक कल्पित नहीं की जा सकती। वास्तव में, इस अशेष सुषमा-सम्पन्न प्रकृति का मूलाधार, मानव की सौंदर्योपासक प्रवृत्ति ही है-मानव की इसी प्रवृत्ति ने, उसके उत्पत्ति काल से, आज तक के क्रमबद्ध विकास को, साहित्य के संग्रहालय में, मानव-जाति के कल्याण हेतु जिस बुद्धिमत्ता एवं सतर्कता से सँजो रखा है उसे विस्मरण नहीं किया जा सकता।

जीवन के इन्हीं सरस एवं सुन्दर शब्द-चित्रों से, भाषा तो समृद्ध शालिनी बनी ही है, साथ ही उससे,, जीवन का कोष भी पूर्णता पाता आ रहा है। एक ओर जहाँ साहित्य की दिव्य-ज्योति से, साधारण से साधारण व्यक्ति, अपने स्वत: के व्यक्तित्व को भली तरह समझ सकने में समर्थ हो सकता है। वहाँ वह असंख्य अज्ञात, मानवों के आत्म-विस्तार, उनकी प्रवृत्तियों और अनुभूतियों से भी साक्षात् पा सका है।

साहित्य ने यदि यह सब सम्भव न किया होता, तो आज ऐसी महान एवं उपादेय मानव जीवन के दर्शन ही दुर्लभ होते। यथार्थ में मनुष्य, जिन स्वरूपों एवं गुणों में प्रतिक्षण प्रकट होता हुआ, दृष्टिगत होता आया है, या आज भी होता आ रहा है अथवा आने वाले कल में, इसी तरह, अधिकाधिक समुन्नत रूप में दृश्य होता जायेगा, यह सब उसकी अपनी हृदयान्तर्गत संचित सृजन शीलता का परिचायक है। मानव-मन का कभी-कभी उल्लसित हो, स्वर्गिक सुख का अनुभव करने लगना और क्षण भर बाद ही अनायास दुख-सागर की तरंगों में तरंगित हो उठना आदि सभी

बातों में इसी प्रवृत्ति का प्रभाव परिलक्षित होता है। इस प्रकार जहाँ मानव-मन का हास-विलास, विश्वास और उत्साह, उसका जीवन बनता है वहाँ इसी मन की व्यथा शिथिलता, उसका निरुत्साह, उसकी ग्लानि पीड़ा, और वेदना आदि सब उसके पतन के आधार भी बन बैठते हैं। किन्तु यह तब सम्भव होता है जब अपने जीवन के अनुपात और क्रम से असबम्द्ध हो कर, मनुष्य अपने गत और आगत जीवन में सामंजस्य स्थापित न कर, निर्माण के दर्शन की कला से वंचित रह जाता है। यहीं वह अपने यथार्थत्व से गिर जाता है। और इन निम्न प्रवृत्तियों से युक्त उसकी कृति, अकल्याणकारी होती है। ऐसी रचना जिसमें मानव का पतन एवं विनाश निहित होता है।

अतः सृजन एवं सजीवता जिस साहित्य की विशेषता है वही साहित्य, अनुभूतियों तथा जीवन के निर्माणकारी उपकरणों को एकत्रित कर उन्हें जीवन की महानता को आधार होने का गौरव देता है और इस तरह साहित्य हमारी अनुभूत, अज्ञात, अदृश्य भावनाओं, कल्पनाओं, विचारों, भावों तथा स्वप्नों को संकलित कर, मानव को रूप, संज्ञा और अर्थ भी देता है। स्पष्टता सम्भव करता है, महत्ता प्रदान करता है प्रेरणा देता है तथा जीवन का अभय देकर, उसे स्थायित्व भी प्रदान करता है। असंख्य मानवों के मन के नाना क्रिया कलाओं को, सर्व साधारण के लिए लभ्या और सुलभ बना देना भी साहित्य की विशेषता है। इस तरह साहित्य का कृतित्व, जीवन के शिल्पियों का आदर्श है। जीवन की मृत्रिका को कुम्भकार की नाई, बना कर उसे मूर्त करना अथवा एक माली की तरह निष्काम-कामना का आश्रय ले, अपने अथक एवं शतत प्रयत्न के द्वारा, समस्त विश्व को सुगन्धित तथा मनोहारी फूलों

की भेंट देते रहने ऐसी लगन में, साहित्य की उत्कृष्टता है। यहाँ कुम्भकार और माली के हृदयों में जिस सृजन-शक्ति का हमें दर्शन मिलता है, यथार्थ में वही सृजन-शीलता, कल्पना का आश्रय पाकर अनुभूति के माध्यम से, सौंदर्य का आविर्भाव करती है। और यही प्रवृत्ति, जो जीवन के महान तत्वों का संकलन कर, उन्हें सुन्दरता में परिणत करती है, मानव जाति की प्रगति शीलता का आधार है। केवल उपयोगिता के संकुचित क्षेत्र में, मन को बाँध रखना, सच्चे साहित्य की गति को कुंठित कर देने ऐसा ही है।

इस प्रकार यदि साहित्य में, एक ओर जीवन कला की सामग्री समाहित रहती है तो दूसरी ओर, उसमें लोक-कल्याण की भावना का समावेष भी रहता है। एतदर्थ साहित्य, कला और मानव-जीवन की उपयोगिता पूर्ण प्रवृत्ति का, अनूठा समन्वय है। यह एक दूसरी बात है' कि कलात्मक कृति को, कभी-कभी उपयोगिता से अछूता ही रख लिया जाय, किन्तु इस पृथकता से असाहित्य कहना युक्ति-युक्त नहीं। न तो उपयोगिता की कसौटी पर कस कर, साहित्य का परीक्षण ही न्याय-सङ्गत है और न ऐसा एक भी निर्णय किसी प्रकार मान्य ही हो सकता है।

यथार्थ में आज का मानव, विगत कला के, प्रकृति के ऊपर ही पूर्ण रूपेण निर्भर रहने वाले मानव से, बहुत कुछ आगे आ गया है। आज तो उस प्रारम्भिक काल के व्यक्ति का जंगली जीवन, उदर पूर्ति हेतु, मांसाहार प्रवृत्ति-प्रदत्त, कंद-मूल और फल तथा धूप शीत एवं वर्षा से त्राण पाने के लिए, वृक्षों की छाल व प्राणियों के चमड़े से शरीराच्छादन आदि, मानव-जाति का विकासोन्मुखी इतिहास बन कर रह गया है। समयानुसार जैसे

जैसे मनुष्य की कल्पना और इच्छा शक्ति को, विश्वास के हाथों बल मिला वैसे-वैसे मनुष्य ने अपने पैरों खड़ा होना सीखा और अपने जीवन को अधिक सरल, अधिक उपयोगी तथा सर्वाधिक महान बनाया। उसने कालान्तर में वसुधा का आँचल, अनेक मानवोपयोगी आविष्कारों से भर दिया और अपने इसी प्रयास लगन, कल्पना तथा अनुभूति के सहारे, उसने अपनी मानसिक, आध्यात्मिक एवं बौद्धिक उन्नति भी की। यही कारण है कि प्रगति शील मानव, इस जड़ जगत के अणु-अणु में व्याप्त, किसी अदृश्य किन्तु चेतन शक्ति से साक्षात् कर, उससे तदात्म्य पाने के लिए लालायित हो उठा है तथा "अहं ब्रह्मास्मि "का दावा करके, विश्व का सर्वोपरि प्राणी बन कर, प्रतिष्ठित है।

कुछ भी हो, जीवन के महान् कलाकार शिल्पी अभी भी उसी पवित्र निर्माण कार्य की वृद्धि हेतु, निरन्तर प्रयत्नशील है। उनकी इसी क्रमागत प्रगतिशीलता को, जीवित रख, नवीन निर्माण के हेतु, प्रोत्साहन एवं संकेत देते रहना, साहित्य की अपनी महानता है। और यहीं समस्त मानव जाति, अपनी सभी नवीन सम्भावनाओं के क्षेत्र विस्तार तथा प्रयोजनों की सफलता के लिए साहित्य की ऋणी है। ज्ञान, विज्ञान, और धर्म का मूल आधार एवं प्रेरणा भी यही है।

आज हमें यह निर्भीकता पूर्वक कहना पड़ेगा कि विज्ञान की भयानकता ने, मानव के हृदय को भयभीत कर दिया है और वह जीवन की वास्तविकता की ओर अग्रसर हो उठा है। पाश्चात्य सभ्यता एवं वहाँ के निवासियों की संस्कृति ने, जीवन का मंथन कर, भौतिक विज्ञान के हाथों जिस सुफल की आशा की थी, वह निरर्थक तो सिद्ध हुई ही है। साथ ही उसे अपने मंथन

प्रयास के पश्चात् 'विष' ही हाथ लगा है, और यदि भविष्य पर दृष्टि रखकर, जागरूक साहित्य कार ने, शिव बनकर, लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर, उस गरल का पान नहीं किया, तो उसकी भयानक विषम ज्वाला में, मनुष्य मात्र का विनाश, अवश्यम्भावी है।

निश्चय ही, आज मानव जाति की मुक्ति, संसार के ऐसे ही विशिष्ट कलाकारों के ऊपर निर्भर है जिनको प्रगति, न तो ममता विचारलघुता, और अज्ञान की गिरिमाला से अवरुद्ध ही हो पाई है और न जो, स्वार्थ के नन्दनवनीय क्षणिक सुखों के दास ही बन सके हैं। महामानव बुद्ध एवं बापू की तरह, सत्य, कर्मशीलता मानव-समता, एवं लोक-कल्याण की अकाट्य लगन को अपना जीवन ध्येय बना कर, जिन्होंने अपनी कुछ भी चिन्ता नहीं की और अपने पीछे आने वाली पीढ़ी के लाभार्थ, सदैव नवीन पंथ का निर्माण करते रहने ही में, जीवन की सफलता आँकी है, उन्ही महान् शिल्पियों, कलाकारों एवं साहित्य-मनीषियों के हाथों इस विज्ञान के दानवी भय से अभय मिलता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मानव-जीवन की सफलता का एक मात्र आधार मानव-मन की विशालता। है जीवन को सुखद, सफल और उत्कृष्ट बनाने के लिए मन की महानता, अवाँछनीय है। ऐसी दशा में केवल तन का सुख, अटूट वैभव की प्राप्ति अथवा यश-लिप्सा न तो अधिक महत्वशाली ही दर्शित होते हैं और न इनसे मानव-मन की तुष्टि ही सम्भव है। मानव-मन को उत्थित, विशाल, उदार और महान् बनाने में केवल साहित्य को ही आधार बनाना होता है। एतदर्थ साहित्य-सृजन, मानव-जीवन का निर्माण है और है मोक्ष प्राप्ति का उपक्रम। जीवन की इस

महान आवश्यकता की सफलता या विफलता, बुद्धि और मन के आधीन ही होती है अर्थात् यदि साहित्य का निर्माण, जीवनोद्देश्य से भिन्न, केवल जीवनयापन की लघु कामना को आदर्श मकर निकिया गया, तो वह साहित्य, जीवन को प्रगति नहीं देता, जीवन के आग्रह को वृद्धि नहीं देता, अपितु वह, वाद-विवादों का एक ऐसा विवादालय बन जाता है जहाँ अभिरुचि की तृषा तो शान्त हो जाती है किन्तु मननः तुष्टि को वहाँ से निराश ही होना पड़ता है। और केवल यह अभिरुचि-तृप्ति जीवन के महान् आदर्श सत्य की प्राप्ति नही होती।

साहित्य तो आशा और विश्वास कोजीवन देता हुआ, मानव मन को उस आनन्द-सिंधु की ओर ले जाने में समर्थ होता है, जिसका पानव सलिल पान कर जीवन के दुख, सुख बन जाते हैं और नर, नारायण का स्वरूप पा लेता है। मानव-अभिरुचि-क्षेत्र पर निर्मित, थोथी बुद्धि के हाथों जीवन प्राप्त, राजनैतिकता, आर्थिकता और भयावह वैज्ञानिकता की अट्टालिकायें, पथिक मानव को, यात्रा के मध्य में क्षणिक विश्राम देने में भले ही सफल सिद्ध हों, किंतु न तो यह विश्राम मानव की मंजिल का अन्त ही होगा, और न उसकी मनः तुष्टि का आधार ही। मानव की अन्तः तुष्टि और उसके जीवन की सफलता, साहित्य के द्वारा ही सम्भव है। साहित्य के इस महान् आदर्श में, व्यक्ति विशेष की साधना, एवं उसका तप, ये दो बातें प्रमुख होती हैं। साधना और व्यक्ति का त्याग, संलग्नता, एकरागिता, दृढ़ता, साहस, धैर्य तथा उसके हृदय की उदारता चाहते हैं साहित्यकार भी अपनी, महान तपस्या और अथक साधना के सहारे ही, प्राणि मात्र की कल्याण-भावना की ज्योति को, अपने

अन्तर में प्रज्ज्वलित रखता हुआ, विश्व के स्वार्थ, मोह, ममता, संकीर्ण-हृदयता, द्वेष आदि अकल्याणकारी, सभी तथ्यों के अंधकार को भेदता हुआ, मानव को, सत् भावना के पथ का दर्शन कराता हुआ, आगे-आगे चलता है। और अपने पीछे चलती चली आने वाली पीढ़ी को, निरन्तर बढ़ते आने का संकेत देते चलना भी, इसी महा मानव साहित्य का कार जीवनोद्देश्य होता है। ऐसा होता है निर्लिप्त साहित्यकार और उसका जीवन विधायक साहित्य।

जय मानव ! जय मानवता !!

साहित्य और समाज अन्योन्याश्रित हैं। क्योंकि एक ओर जहाँ साहित्य मानव-समाज को, सुसंस्कृत करने का कार्य सम्पन्न करता है, वहाँ वह मानव-हृदय की अनुभूतियों, प्रवृत्तियों, कल्पनाओं और सम्भावनाओं का एक ऐसा शाब्दिक प्रतिरूप भी प्रस्तुत करता है, जिसके आधार पर उस युग के मानवीय कार्य—कलापों विचारों, विश्वासों तथा जीवन-आदर्शों की सामान्य जानकारी सहज हो जाती है। अर्थात् साहित्य, युगीन संस्कृत विचारों के विनिमय का माध्यम होने के साथ ही, युग के सत्य, शिव, एवं सुन्दर स्वरूप को भी व्यक्त करता है।

यहाँ, भारतीय-साहित्य के क्रमिक विकास को आधार मानकर वैदिक-काल से आज तक की मानव की प्रगतिशीलता का, सूक्ष्म विवेचनात्मक अध्ययन करने पर, यह भली तरह स्पष्ट हो जाता है कि आज हमारे पैर किस सिद्धांत और जीवन-आदर्श की भूमि पर हैं तथा अपने अनवरत मनन, चिन्तन और प्रयासों के फल-स्वरूप, क्या कितनी उन्नति करने में समर्थ हो सके हैं।

वेद कालीन भारतीय जन-भावना की ज्ञातव्यता के हेतु, वेद उपनिषद और स्मृतियाँ ही एक मात्र, किन्तु यथार्थ साधन हैं। उनमें समाहित जन-प्रवृत्ति, निर्विवाद और सर्वमान्य होगी एक

श्लोक इस प्रकार है—

"संगच्छध्वं, संवद्ध्वं, संवो मनांसि जानताम् ।,,
देवाभागं, यथापूर्वे समजानाना, उपासते !!

अर्थात्—हे मनुष्यो ! एक पथ पर चलो ! परस्पर संभाषण करो । तुम्हारे मन उत्तम भावों से युक्त हों । पहले के उत्तम ज्ञानी लोग, जिस प्रकार अपने कर्त्तव्य-पालन करते हैं या करते आये हैं, तुम भी वही करो ।

इसी प्रकार निम्नांकित पद्यांश में वह मानव को, पुरुषार्थी और साहसी होने की कामना करता हुआ, उद्बोधन देता है कि—

अप्रतीतो जयति संधानानि,
प्रति जन्यान्युत या सजन्या !
अवस्यवे, यो वरिवः कृणोति ब्रह्मणे.
राजा, राजा तमवन्ति देवा !!

अर्थात्—जो पीछे नहीं हटता, वह पुरुषार्थी मनुष्य ही विजयी होता है। वही व्यक्ति और समाज विषयक धनों को विजय से प्राप्त करता है।

उपर्युक्त उद्धधृत श्लोकों से, स्पष्टतः विदित हो जाता है कि उस युग के कलाकार की आँख, मानव-एकता, उसके सर्वतो-मुखी उत्थान एवं शतत कर्मशीलता पर लगी हुई थी। इसीलिए वह व्यक्ति-जीवन की मृत्तिका को, अपनी कलात्मक-वाणी की अंगुलियों से, पूर्ण मानव की रूप-रेखा देने हेतु प्रयत्न शील था।

जहाँ वह प्राणी मात्र की भलाई के लिए इतना चिंतित और अभिलाषी दिखाई देता है वहाँ वह विनम्र, निश्छल, कृतज्ञ

और महान् सरल भी था। यही कारण था कि उसने जब और जिस प्रकृतिस्थ वस्तु से, लोक-कल्याण होते हुए देखा, उसने उसकी लोकोपयोगिता के कारण उसे हृदय से सम्मान दिया और उसका आभार माना। सूर्य, पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि की देवयोनि में समाविष्टि. उस समय के मनुष्य की कृतज्ञता-पूर्ण इसी सरल प्रवृत्ति का परिचायक है। इसे उसकी अज्ञानता-मूलक रूढ़िवादिता या निरा अंधविश्वास नहीं कहा जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उस समय, मानव बाह्याडम्बर-हीन, सरल और सात्विक-जीवन व्यतीत करता हुआ, पूर्ण मानवता का विश्वासी था। वह भोजन, वसन और निवास की प्राप्ति के लिए, आज के समान अधिक चिंतित एवं प्रयत्नशील नहीं दिखाई देता। उसे जीवित रहने के लिए यथेष्ठ भोजन, केवल शरीर रक्षा के लिए वसन और और साधारण निवास ही अपेक्षित थे। जीवनोपयोगी आवश्यकताओं की पूर्ति के पश्चात् उसका सम्पूर्ण समय अपने चारित्रिक, आध्यात्मिक और शारीरिक उत्थान में व्यतीत होता था। हमें उस युग की एक भी ऐसी कृति उपलब्ध नहीं होती, जिससे उस युग के मानव की हृदय-लघुता, विचार संकीर्णता अथवा छिद्रान्वेषिता की पुष्टि होना सम्भव हो। या वह अपने निर्णीत आदर्श—लक्ष्य से, किंचित भी पथ-च्युत हुआ हो।

वह एक ऐसा समय था, जब मनुष्य मात्र, समस्त विश्व में व्याप्त, महाशक्ति से तदात्म्य पाने का प्रयत्नशील दिखाई देता था। तब उसमें सरलता थी और प्राणी मात्र के लिए उसके हृदय में था विशुद्ध-प्रेम। न तो वह अकारण ही किसी प्राणी को क्लेश ही देना चाहता था और न उसे ऐसी क्रिया में आनंद

ही मिलता था। और यही कारण था कि नागराज ने, देव योनि में प्रतिष्ठा प्राप्त कर, विषधर होते हुए भी सम्मान पाया। संसार का दुख उसकी पीड़ा थी और वह सदा उच्चाति उच्च विचारक साधक और सच्चे मानव ऐसा जीवन व्यतीत करना; जीवन की सार्थकता मानता था।

एक समय ऐसा भी आया जब मानव ने शक्ति के स्वरूप को अपने विश्वास, अनुभव और सामर्थ्य के अनुसार श्रेणी बद्ध किया और परिणाम में, एक में अनेक की प्रतिष्ठा की गई। और इस तरह पालक-शक्ति—विष्णु, विधायक—ब्रह्मा और हित-कारी तथ्यों की विनाशक—शिव के रूप में युग के समक्ष आईं। लोगों ने अपनी अपनी रुचि, आवश्यकता एवं श्रद्धा के अनु-सार, इन त्रिदेवों की सृष्टि की। उसने इन सुरों की पूजन आराधन के साथ-साथ, उनके गुणों को स्वजीवन में समाहित करने का प्रयत्न किया। श्रद्धा और विश्वास पर आरूढ़, कर्मठ मानवों ने, अपनी अभिलाषायें प्रतिफलित होते देखीं तब शनैः शनैः यह भक्ति, कालान्तर में सर्वमान्य होकर, एक रूढ़ि बन गई। वेदों और उपनिषदों में, ऐसी अनेकानेक, मानव-सत्पथ-दर्शिनी साहित्य कारों की कल्पनाओं के संग्रहीत-स्वरूप हैं। और जब समाज ने आदर्शों को धर्म के हाथ सौंपा तब धर्म की धारणा ऐसी संकीर्ण नहीं थी। उस समय तो इसका एक मात्र उद्देश्य व्यक्ति-उत्थान के साथ लोक-कल्याण था।

किन्तु युग परिवर्तन के साथ, जैसे ही लोगों ने कर्म की अपेक्षा केवल श्रद्धा और विश्वास पर, अपनी मुक्ति और स्व-कल्याण की कामना की और कर्म गौण रह गया तब ही, मानव-जीवन में अंधविश्वास और रूढ़िवादिता को स्थान मिला। इसके फल-

स्वरूप, व्यक्ति की श्रद्धा और आदर्श में, भक्ति, कर्म-हीनता के कारण, निरा दिखावा रह गए। मानव-अंतर से जैसे उसका संबंध टूट ही गया। कर्म मानव के जीवन में प्रधान नहीं रहा। वह देखने में भक्त और श्रद्धालु तो रहा किन्तु वह निरन्तर आलस्य-प्रिय, अकर्मण्य तथा परावलम्बी होता गया। शास्त्रोक्त श्लोकादि, उसके ओष्ठ और कण्ठ में ही स्वरित होकर रह गये। हृदय और मस्तिष्क से, जैसे उसके ललित काव्य पारायण का कोई सम्बन्ध ही नहीं रहा। वह वाचक और पाठक बन गया। तथा उसकी कथनी और करनी में महान अन्तर आ गया।

यहाँ अब तक, सर्वसाधारण में श्रद्धा और भक्ति-पूर्ण विश्वास की कर्म हीन भावना का जागरण हो ही चुका था। तथा वेद कालीन समाज से उसके पश्चात् आने वाली जनता ने, ममता, पारस्परिक-स्नेह के साथ, भक्ति और विश्वास भी विरासत में पाये थे। परन्तु शिक्षा की न्यूनता और अन्ध-भक्ति की महानता ने भारत में लक्ष-लक्ष, कोटि-कोटि देवों को जन्म दिया। देवों को स्थापित करके आँख बन्द कर, उनकी आराधना की तथा अपने सुख, कल्याण और मोक्ष प्राप्ति की कामना भी। यही भक्ति और कर्म-हीनता, व्यक्ति और समाज के गौरव को अक्षुण्ण न रख सके। परिणामतः जब इस देश को, विदेशी शक्तियों से संघर्ष का अवसर आया तब यहाँ के श्रद्धालु निवासियों को परास्त होने का दुर्भाग्य देखना पड़ा। यह सच है कि किसी जाति का परास्त होना ही, उसकी कर्महीनता का परिचायक नहीं होता। कर्मठ जाति भी हारकर, इस अपराध से मुक्त रह सकती है। परन्तु स्वदेश की अविजय का एक मात्र कारण, उसकी देवी देवताओं और दवी-सहायता में अंध-भक्ति ही थी, ऐसा मानना ही पड़ता है। अन्यथा जिस देश के समक्ष, विश्व विजय की

कामना लेकर, अनेक राष्ट्रों को ध्वस्त करते चले आने वाले सिकन्दर को निराश होकर, कायर की तरह स्वदेश लौटने को विवश होना पड़ा वही देश महमूद गजनवी को अपने ऊपर सत्रह बार आक्रमण कभी भी नहीं करने दे सकता था। तभी ऐसी ही परावलम्बिनी प्रवृत्ति के कारण, साहित्य कार को—"कर्मण्ये—वाधि कारस्थे, माफलेषुक दाचिन्" की स्मृति हेतु जागरूक होना पड़ा।

यवन सहवास से भारतीय संस्कृति को, अनेक विदेशी अमान्यताओं से सामना करना पड़ा और भारतीयता पर सांघातिक संकट आ पड़ा। तब द्वापर के कृष्ण और त्रेता के राम को सूरदास और तुलसीदास ने पुनः जन्म दिया। जनता की पराधीनता, दुख तथा विपत्ति से निवृत्ति पाने हेतु, दैवी गुणों का दर्शन, सूर सागर तथा रामचरित मानस के हाथों मिला। इस समय श्रद्धालु और विश्वासी जन-समुदाय, चमत्कारिक और अनहोनी घटनाओं के घटित होने में विश्वास करने लगा था। कर्मवीर कृष्ण, और चरित्रवान राम के महामानवीय स्वरूपों को देखकर, आश्चर्यान्वित रह गया। तथा गद्गद् होकर, श्रद्धा से और भक्ति से उनका गुणगान अपना जीवन आदर्श समझने लगा। क्योंकि उसे तो दैवी शक्ति पर अटूट विश्वास हो चुका था। वह बिना कुछ कर्म किए ही, स्व-कल्याण का विश्वासी हो कर, निरा-भक्ति और आराधना में तल्लीन था।

परन्तु जहाँ, सब साधारण कर्महीनता-प्रिय होकर, अपने यथार्थ लक्ष्य से उदासीन होता जाता है वहाँ उस युग का साहित्यकार अपनी कला-कृतियों से स्व-युग के वातावरण में ऐसी कुछ विशिष्ट लहरें भी उद्भूत करता चलता है जो किसी न किसी व्यक्ति की जीवनी श्वासों के साथ, उसके अन्तर को स्पर्श कर, मन वांछित

आदर्श की ओर बढ़ने का बल देने में समर्थ करती रहती हैं। और तब हुआ भी यही। योगिराज कृष्ण के "कर्मण्ये बाधिकारते माफलेषु कदाचिन्" ने अनेक हृदयों में स्थान पाया और फलाशा छोड़कर कर्म करते चलने के विश्वासी बने। इसी प्रकार श्री राम के महामानवीय स्वरूप, मर्यादा पुरुषोत्तम रूप से जनसाधारण को चतुर्दर्शी उत्थान के लिये प्रोत्साहन मिला। परिणाम स्वरूप समाज को मातृभूमि की रक्षा और स्वतंत्रता के लिये, बलिवीरों और कर्मवीरों का बरदान मिला। साथ ही श्रीराम के जीवन चरित्र से अपनी ध्वस्त कौटुम्बिकता को पुनः व्यवस्थित होने में यथेष्ठ बल भी। और इसी कारण जन-जन के अंधकार पूर्ण हृदयाकाश में फलाशाहीन कर्म और उत्थित चरित्र पर उस युग की आँखरीझी तथा राम, कृष्ण और बुद्ध, भगवान के ही अवतार मान लिए गए। तब मानव ने

परित्राणाय साधूनां, विनाशायच दुष्कृताम्'
धर्मसंस्थाप नार्थायः सम्भस्वामि युगे, युगे ॥"

गाकर, जीवन को सँवारा। लोगों को तुलसीदास की इन चौपाईयों में महाकवि के भविष्य वक्ता ऐसे स्वरूप का दर्शन मिला और वे उन्हें गा उठे।

"जब जब होय धर्म की हानी, बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी"
अब तक, विश्व-व्याप्त महा-मानव की श्रद्धा, विश्वास और ज्ञान के आधार पर तीन भागों में विभाजित हो चुकी थी। "एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति" खंड खंड हो गया था। और ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव के अतिरिक्त अन्य कई देवी देवताओं के दर्शन का विश्वासी यहां का जनसमुदाय हो गया था! रामानन्दी, शैव

और वैष्णव सम्प्रदायों का अवतार, मानव की उसी कथित प्रवृत्ति के प्रतीक हैं। मनुष्य का विश्वास, प्रेम और भक्ति भिन्न भिन्न होने के कारण, अनेक कर्मों में भी भिन्नता ने स्थान पाया। और इसी विचार विभिन्नता ने पुनः लोगों को पथच्युत होने में साधन सम्पन्नता दी। राम चरित मानस की समाजोपयोगी और लोक-हितैषिनी चौपाइयां और दोहे, उस युग के मानव के रक्त बिन्दु होकर उसके शरीर में संचरित होने लगे। तथा लक्ष-लक्ष देवों का अस्तित्व यथाविधि बना रहा। परिणाम स्वरूप सर्व साधारण के पारस्परिक मिलन प्रतीकों की संख्या बढ़ गई। वेद कालीन युग में जो 'नारायण' 'नारायण' प्रणाम और नमो नमः मिलन प्रतीक प्रचलित थे, अब उन का मूल्य वैसा न रह सका और उन का स्थान, "जै श्रीराम" "हरे कृष्ण-हरे कृष्ण' 'शिव शिव' सीता राम' 'जै राम जी की' ने ले लिया। अनेक देवों और आदर्शों के साथ, अनेक मिलन प्रतीकों ने भी सृष्टि पाई। इस प्रकार वेद काल के मानव की वह प्रगति, वह विशाल हृदयता और मानवता, अनेक आदर्शों की मान्यता के पश्चात्, खण्डित हो गई और वह युग एक ब्रह्म के स्थान में अनेक ब्रह्मों का विश्वासी बन बैठा। साथ ही उसमें जातीयता और धर्म विशेष के लिये प्रेम-भावना की एक सीमित विचार धारा-ने जन्म पाया। यही विचार संकीर्णतायें और उसकी ईर्ष्या, क्षुद्रता, लघुता और अज्ञान का बल पाकर, कालान्तर में जन-संघर्ष के आधार-भूत कारण भी हुईं।

परन्तु उस समय भी मानव का जीवन, पूर्ण-रूपेण धार्मिक था। धर्म-कर्म एवं आध्यात्मिकता ने महामानव को मानव बनाये रखने का पुण्य कार्य किया। वह किंचित जातीय और धार्मिक

संकीर्णतायें अपना कर भी, मानव बना रहा। कर्म और चरित्र पर उसकी दृष्टि ज्यों की त्यों ही बनी रही। यही कारण था कि तब स्वर्ण का मूल्य आज ऐसा मँहगा नहीं था। स्वर्ण की प्राप्ति और उस का संचय, श्री वृद्धि के लिए अपेक्षित था। जीवन की अनेक अभिलाषाओं के साथ स्वर्ण संचय भी एक साधारण आशा थी। मानव, जन्म से ही सौन्दर्य-प्रिय रहा है और चूंकि स्वर्ण भी सुन्दरातिसुन्दर धातुओं में से एक है, जन समुदाय का उसकी ओर आकर्षण एक स्वाभाविकता थी। तब सुन्दर फूलों की ग्राह्यता की तरह कंचन की संचय-कामना भी मानव-हृदय में जागी। पर परिस्थिति और विचारों के साथ स्वर्ण को समाज में जो सर्व श्रेष्ठ स्थान मिला और जिस तरह इस युग की दुनिया सोने के संचित करने के लिए उचित और अनुचित सत् अथवा असत् मान्यया तिरस्कृत उपायों की अभिलाषिनी हो गई है वैसी कुछ वह तब नहीं थी। धन की ओर ऐसा भयावह संकीर्ण और स्वार्थ पूर्ण झुकाव, उस समय के मनुष्य का नहीं था।

एक ऐसा समय भी आया जब देश, विदेशी शक्तियों के आधीन हुआ। यवन-संस्कृति, भारतीय-संस्कृति से नितान्त भिन्न थी। परन्तु वे विजयी थे और यह देश विजित हो चुका था इस लिए विजित पर विजयी की भाषा, उसकी वेष-भूषा तथा उसके अपने आचारों-विचारों का प्रभाव, एक स्वाभाविकता हो जाती है। परिणामतः इस देश के निवासियों की रीति-नीति और सभी कार्यों में विजयी-जाति के संस्कारों को प्रतिष्ठा-प्राप्ति का अवसर मिल सका। अनेकानेक रूढ़ियों, विचारों और विश्वासों के साथ इस देश को जो कुछ मिला उसमें निरीश्वर-वादिता, विलासिता अस्पृश्यता और परदा विशेष उल्लेखनीय हैं।

जहाँ मन्दिरों और मठों की नर्तकी, यवनकाल में वेश्या बनकर बाजार में आई, वहाँ मावन का ईश्वराभिमुख अध्यात्मवाद और प्रेम, निरीश्वरता के साथ, वासना का भक्त हुआ। सुरा और कामिनी की पूजन आराधन, इसी काल में उन्नति के शिखर पर पहुँचे। कवि देव और बिहारी की प्रतिभा तथा कल्पना नारी के सौन्दर्य उसके नखशिख वर्णन तथा भावभंगिमा के वर्णन में अपनी कुशलता की महानता आँक बैठीं। लोलुप और कामुक साहित्य के निर्माण ने, नारी में ईश्वर के दर्शन सुलभ किये। यदि हम ऐसा न करते तो विहारी और देव ऐसे महा कवियों की रसिकता और वासनोद्दीपक रचनाओं को कला-कृति कहने के लिए, कोई पथ ही प्राप्त न होता।

इसी समय आश्रमों का स्थान सुन्दरातिसुन्दर राजसी भवनों ने लिया तथा वेश्यालयों, कलात्मक रंगमहलों और मनोमोहक भवनों का निर्माण, कंचन की कृपा पर, कामिनी के सम्मान में, उदित हुआ। व्यक्ति, चरित्रहीनता की ओर सर्वाधिक अग्रसर हुआ, वह वासना प्रिय हो गया और उसकी लगन ईश्वर से प्रथक हो कर, नारी सौन्दर्य पर आ रीझी।

युद्ध में विजित भारतीय, यवन,-राजाओं, मंसबदारों और नवाबों के सेवक हुए। राजपूती गौरव का दम घुटने लगा। वीरत्व या तो दास हो गया अथवा राज सत्ता की दासता स्वीकार कर, अधिकार प्राप्ति की बिलासिता में डूब गया। पराधीन भारतीय-सैनिक, उनकी दासता करते-करते इतने गिर गये कि उन्हें, शाशक के जघन्य कार्यों की पूर्ति के लिए भी, विवश होना

पड़ा। परिणामतः युगों-युगों तक एक हीसा कार्य करते करते, उन्होंने उसे अपना एक जन्म-जात कार्य समझ लिया। और वे सर्वसाधारण की दृष्टि में, तुच्छ, लघु, निम्न तथा अस्पृश्य समझे जाने लगे। भविष्य में ऐसे ही लोगों की जमात, अछूत और हरिजन के रूप में राष्ट्र का, कलंक बन गई।

मनुष्य को निरीश्वर वादी, विलासी, प्रमादी, आलस्य-प्रिय नृशंस, उद्दंड और स्वेच्छाचारी हुआ देखकर, युगीन विचारों में क्रान्ति का उदय हुआ। और जब इन्सान की सांस, उस वातावरण में घुटने लगी तथा मानव को पद-पद पर, भले आदमी ऐसा जीना दूभर हो गया तब तुलसीदास, सूरदास और कबीर दास ने, मानव के पुनरुत्थान के लिए जन्म लिया। इन्हीं महात्माओं एवं महाकवियों ने अपनी अपनी रचनाओं और वाणियों की मथानी से. उस काल के मानवीय जीवन के विकृतदधि को निरन्तर मथकर, जीवन के यथार्थ स्वरूप का नवनीत, समाज के समक्ष प्रस्तुत किया और समाजहित तथा लोक-कल्याण की भावना से प्रभावित होकर वे जो कुछ गासके वह राम चरित्र-मानस सूरदास और कबीर की स्फुट साखियों के रूप में आज भी हमारे समक्ष हैं।

वस्तुतः विचारों का संघर्ष जागा और सर्व-साधारण तुलसी, सूर, और कबीर के आदर्शों की ओर महान् आकृष्ट हो गए। परिणाम-स्वरूप अहितकारी तथ्यों का धीरे-धीरे लोप होने लगा। यथार्थ में मानव के नवीन जीवन का प्रारम्भ, एक बार पुनः इसी समय से हुआ, पर वेद कालीन, युग के मानव का आदर्श, इस समय बदल गया था। वह साधक और विचारक तो था परन्तु उसका स्नेह, श्रद्धा और विश्वास खण्ड-खण्ड होकर, राम, कृष्ण,

शंकर आदि अनेक आदर्श महामानवों की ओर आकर्षित हो गया था। और यही कारण था कि तब "प्रणाम, नमोनमः व नारायण' के मानव मिलन प्रतीकों के साथ हरे-कृष्ण, राधा-कृष्ण, जै श्रीराम 'आदाब अर्ज' तथा 'अस्सला मालेकम' समाज को मान्य हुए। वह सरल, स्नेही और ईश्वराभिमुख तो रहा परन्तु अब वह 'सर्वभूत हितेरता' और 'बसुधैव कुटुम्बकं' का वैसा विश्वासी नहीं रह सका। उसके विचारों में धार्मिक भावों के द्वित्त ने जड़ जमा ली। और उसके जीवन का लक्ष्य, स्वधर्म, स्वजाति तथा स्व-समाज का उत्थान व उसका पुनरुत्थान बन गया। आध्यात्मिकता, रहस्यवादिता और सार्वभौमिकता की विचारधारा को उसके जीवन में गौणता मिली, प्रमुखता नहीं।

कालान्तर में, धर्मान्ध, स्वेच्छा-चारी, वासना-प्रिय और नृशस-युग के पश्चात् भारतीय-समाज को, विदेशी व्यापारी-वर्ग के संसर्ग में रहने का समय भी देखना पड़ा। और यवन सह-वास से संधि पाई हुई भारतीय संस्कृति पर, पाश्चात्य-संस्कारों का प्रभाव प्रारम्भ हो गया। जिसके फल-स्वरूप, हम हृदय प्रधान न रह कर, मस्तिष्क-प्रधान हो गए। मानवीय-ममता, स्वकार्य-सिद्धि तक ही सीमित रह गई। सर्वसाधारण, संकीर्ण हृदयता, लोलुपता और स्वार्थान्धता के भक्त बने। इस प्रकार यहाँ के जीवन में व्यापारिकता को श्रेय मिलते ही, पूँजी के महत्व का श्री गणेश हुआ। कूटि-नीति से स्व-अर्थ साधन कर लेने वाला बुद्धिमान, विवेकी और यथार्थ मानव, माना जाने लगा। यहाँ की भाषा गई, भाव बदले, तथा नवीन विचारों, भावनाओं, प्रेरणाओं और विश्वासों ने जन्म पाया। श्रीराम, कृष्ण और बुद्ध तो रहे, मन्दिर मस्जिद और मतभी यथा स्थान बने रहे, पर

लोगों की उन पर श्रद्धा, स्वकार्य-सिद्धि के लिए ही प्रमुख हुई व हार्दिक ममत्व पूर्ण-भावना नहीं रह सकी। भजन, पूजन और आराधना की एक ऐसी लकीर रह गई, जिसे पीटते रहना ही समाज के हाथ रहा। तैंतीस कोटि वाले स्थान में पैगम्बर और मुहम्मद के अतिरिक्त, ईसामसीह की वन्दना भी प्रारम्भ हो गई।

भूवेशषा, शिक्षा-प्रेम, व्यवहार, रीति-नीति के परिवर्तित होते ही, देश-वासियों का विश्वास बदला। यवन सहवास से भारतीय जनभावना में धार्मिकता का समावेश प्रधानता से हुआ था, किन्तु आंग्ल-प्रभाव से धार्मिकता की भावना, क्षीण होती गई और यहाँ के निवासियों को स्वराष्ट्र की उन्नति, व उसके कल्याण के लिए सोचना-समझना भला दिखाई देने लगा। क्योंकि आंग्ल प्रभुओं का समस्त-भारतीय जीवन, यहाँ की पूंजी को हथिया कर स्वहित के अतिरिक्त, स्वराष्ट्र के उत्थान करने की ओर केन्द्रित-रहा है।

जीवन का लक्ष्य-बिन्दु परिवर्तित होते ही, हमारे क्रिया-कलापों, में, परिवर्तन भी एक स्वाभाविकता होगई। परिणाम स्वरूप भारतीय ज्ञान, स्वार्थ के संकीर्ण विचारों का बन्दी हो गया।

डेढ़ दो सौ वर्षों के लम्बे पाश्चात्य-सहवास और आधिपत्य ने, भारतीय-जीवन की गति ही बदल दी। वह अन्तर्दर्शी और वैसा ममतालु नहीं रहा। राष्ट्र की व्यवस्था में पूँजी को विशेष महत्व मिला। और इसीलिए भारतीय मानव में, दासत्व तथा परावलम्बी जीवन ने रोटी, कपड़े और निवास-गृह की प्राप्ति को

ही, जीवन का आदर्श बनाया। पूँजी साध्य हुई और दासता साधन। धर्म और ईश्वर में आस्था घटती गई तथा इसके विरुद्ध अर्थार्जन उसका एक मात्र ध्येय हो गया। 'धर्मार्थ कर्म मोक्षाणां' परिवर्तित होकर, अर्थ, काम, धर्म मोक्षाणां बनता गया। तथा उसके राम, कृष्ण, शिव, बुद्ध तथा महावीर, की उतनी चिंता न रही। मन्दिरों में जाकर प्रातः-सायं उनके दर्शन मात्र से, मुक्ति में विश्वास, रूढ़ि बन गई। वह विचारक रहा, साधक नहीं। साधना की अपेक्षा, विवाद से सत्य दर्शन का विश्वासी हुआ वह। और जब यहां की सम्पत्ति पानी की धार की तरह, विदेशों में जाने लगी और यहां का मस्तिष्क जीवी मानव, राजसत्ता की सेवा में व्यस्त हो गया तब धन-हीन, साधन-हीन एवं सेवक-राष्ट्र को, अपने अस्तित्व को बनाये रखना ही एक समस्या हो गई।

पाश्चात्य-साहित्य के हाथों भी, उस ओर की संस्कृति की छाप, हमारे अन्तर-अन्तर में, ऐसी कुछ खचित हो गई कि हमारे समक्ष, विदेशी-लेखक, शासक देशवासियों के परम धर्म गुरू, बन बैठे। हम विदेशी आँखों से देखने के अभ्यासी हुए। और यहाँ के महापुरुषों, सन्तों एवं महाकवियों का मूल्याकन, पाश्चात्य विचारकों, साधकों और महापुरुषों की विचारधारा की की कसौटी पर होना ही, सम्भव हो सका।

इस परावलम्बिनी प्रवृत्ति की जाग्रति के कारण, पौरुष शिथिल हो गया और कापुरुषता का बन्दन हुआ। तथा धन-धान्य पूर्ण देश, अपनी—हीनता के कारण, दरिद्र सेवक हो गया। इने-गिने पूँजी पतियों के अतिरिक्त, देश में सेवकों, किसानों

और मजदूरों की संख्या बढ़ गई। शनैः शनैः जब, खाओ, पियो मौज उड़ाओ का सिद्धान्त, लोगों को मान्य हो गया तब विदेशी वस्तुओं का उपयोग सर्व प्रिय हो सका। इस प्रकार, विदेशी वस्तुओं की प्राप्ति पर, देश की सम्पत्ति का प्रमुख भाग विदेशों में गया और यहाँ भूख जागी। वस्त्रों की न्यूनता ने अँगड़ाई ली। और लोगों का दृष्टिकोण ही बदल गया। परिणाम में समाज वाद एवं साम्यवाद की सौगात इस राष्ट्र को मिली। और भारतीय-जीवन में आर्थिक नीति के कारण, नीति और कूटनीति को श्रेय मिला। यही कारण है कि आज हमारे मिलन-प्रतीक बदल कर, कभी 'बन्देमातरम्' 'जयभारत' 'जयदेश' हुए और आज 'जयहिन्द' के साथ 'जयजनता' तथा 'जयमजदूर' हो गये हैं। एक समय था जब हम—

"त्वमेव माताश्च पिता त्वमेव,
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव!
त्वमेव विद्याश्च द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं, मम देव देव !!

पूर्ण रूपेण उसी सर्व शक्तिमान पर आश्रित रहते थे। कर्म करते हुए भी, उसकी कृपा और शक्ति का आभार प्रदर्शन कर लेते थे। निश्चय ही तब हमारे हृदयों में विचार-संकीर्णता और अहं नहीं जागा था। कुछ समय के पश्चात् परिस्थिति के अनुसार विचारों में परिवर्तन हुआ। युग बदला। समाज के रीति-रिवाज बदले और हमने "बुद्धं शरणं गच्छामि" का जाप किया। किन्तु आज वही जन समुदाय "कमाने वाला खायगा" कह कर इस बात की पुष्टि करता है कि आज वह केवल खाने पीने और रहने के साधन जुटाने के लिए जैसे जी रहा है। रोटी, कपड़ा और मकान में जैसे उसकी जीवन-तुष्टि निहित हो गई है।

यथार्थ में जलाशयों में प्रतिक्षण उठती रहने वाली तरंगों और उनके स्थान में, निरन्तर नवीन लहरों के आने-जाने वाले क्रम की नाईं ही, मानव की इन अन्तर-प्रवृत्तियों का परिचय, उसकी कृति, काव्य-रचना, साहित्य, जय-ध्वनि और कार्य-कलापों से मिल जाता है। यही सही स्वरूप में मानव की युगीन-प्रवृत्तियों को प्रदर्शित करने वाले, सच्चे प्रतीक भी हैं।

इसीलिए वर्तमान के अहितकारी-तथ्यों का निवारण कर युगीन यथार्थ की आदर्श में परिणति, एक विचारणीय विषय है। साथ ही इस आदर्श निर्माण के लिए; हमें जिस प्रकार के मिलन प्रतीकों, जयध्वनियों, कलाकृतियों एवं साहित्यिक रचनाओं का आश्रय अपेक्षित हो निर्माण करते चलना, आज के मानव की वास्तविक प्रगति शीलता है। पुरानी लकीर को पीटना अथवा विदेशी आदर्शों की तृष्णा में चलते चले चलना, रूढ़िवादिता के अतिरिक्त, कुछ नहीं है। ऐसी अनुकरण शीतलता में, जड़ता और नव-निर्माण में, राष्ट्र का जीवन है।

और चूंकि मानव के मानसिक, शारीरिक तथा चारित्रिय विकास के ऊपर ही व्यक्ति और राष्ट्र का उत्थान एवं पुन-निर्माण निर्भर है, हमें पूर्ण-मानव की सृष्टि के लिए सत्साहित्य के निर्माण के साथ, 'जय-मानव' और 'जय-मानवता' के साथ मिलना प्रारम्भ कर, नवीन-युग को यथार्थ निर्माण की ओर प्रगति शील करना होगा।

'गाँधी-वाद'

'वाद' शब्द संस्कृत भाषा की 'वद्' धातु से बना है। 'वद्' का अर्थ होता है बोलना। 'अहं वदामि'—मैं बोलता हूँ। और जब हम इस शब्द को गान्धी जी के नाम के साथ जोड़ लेते हैं तब तब गान्धी-वाद का अर्थ, गान्धी जी की मानव-जीवन-सम्बन्धिनी विचार-धारा के अतिरिक्त कुछ और अधिक नहीं होता। परन्तु गान्धी जी द्वारा राष्ट्र की स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिये अपनाई गई राजनैतिक-प्रणाली, जो यथार्थ में उनके सम्पूर्ण दर्शन का एक अंश ही है; सम्पूर्ण गान्धी-वाद मान लिया जाय, तो हर दृष्टि-कोण से यह निर्णय, अनुचित और अमान्य होगा। यह सच है कि महात्मा गान्धी का सर्वाधिक जीवन, राष्ट्र की स्वतन्त्रता-प्राप्ति में ही व्यतीत हुआ है; किन्तु उनकी वह सब राजनैतिक विचार-धारा ही उनका 'गान्धी वाद' है ऐसी बात नहीं है। इस अपूर्णता को पूर्णता नहीं माना जा सकता। वह तो उनके दर्शन का एक अंग मात्र है। और जब गान्धी जी ने मानव के समस्त-जीवन को ध्यान में रखकर, अपने अनुभव, मनन और चिन्तन के पश्चात्, उसके वैयक्तिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं आध्यात्मिक जीवन के सम्बन्ध में,अपने निष्पक्ष और पूर्ण स्वतन्त्र-विचार प्रगट किये हैं, तब केवल राजनैतिक विचारों को ही, गान्धी-वाद समझ लेना किसी भी तरह न्याय-संगत नहीं है।

गान्धी-वाद तो मानव-जीवन का ऐसा पूर्ण तात्विक ज्ञान है जिसमें व्यक्ति और समाज की नैतिकता के साथ राष्ट्रीयता

तथा अन्तर्राष्ट्रीयता की समस्त नैतिकता प्रतिष्ठित है। यथार्थ में, गान्धी जी स्वयं अपनी विचार धारा को 'गान्धी वाद' की संज्ञा देकर, उसे किसी सम्प्रदाय के रूप में बदल देने के पक्ष में नहीं थे। इसी भय से उन्होंने अनेकों बार अपने भाषणों में स्पष्ट शब्दों में कहा था कि गान्धी-वाद नाम की कोई चीज राष्ट्र में नहीं है। और उसे मेरे नाम के साथ न लपेटा जाय तो अच्छा है।" वे इसे भली तरह जानते थे कि व्यक्ति का नाम कालान्तर में जब एक सम्प्रदाय बन जाता है और सर्व साधारण के विवेक और उनकी इच्छाओं का तिरस्कार कर, उन्हें केवल निर्देश देने लगता है, तब वह 'वाद' अपने यथार्थत्व से गिर जाता है। और धर्म बन कर मानव को अपने आदेशों के इंगित पर कार्य करते चलने का विश्वासी बना देता है। यहीं मानव-मन में रूढ़िवादिता, अकर्मण्यता, ईर्षा-विद्वेषादि पनपते हैं। आज से पहिले भारत वर्ष में जिन अनेक सम्प्रदायों और पंथों ने जन्म लिया, उन सभी में उनके अपने युगों की परिस्थिति के अनुसार लोक-कल्याण की भावना पूर्ण-रूप से निहित थी। प्रत्येक पंथ ने अपना-अपना झंडा गाड़कर लोक-हित का ढिंढोरा पीटा और उन्हे अपने झंडे के नीचे आकर मानव-जीवन के यथार्थ-स्वरूप के दर्शनों के लिए आमंत्रित किया। परन्तु जब उनमें रूढ़ि-वादिता और अन्ध-विश्वास ने अपना अधिपत्य जमाया, तब विवेकी और बुद्धि-जीवी मानव की साँस-उस संकीर्णता में घुटने लगी तथा उस बन्धन से स्वमोक्ष के लिए प्रत्येक युग में क्रान्तियाँ हुईं। आवश्यकता पड़ने पर, तलवारों का आश्रय भी लिया गया तथा अपने प्राणों का उत्सर्ग करके भी, उसे अपने आदर्श में परिवर्तित किया गया।

गान्धी जी इसे भली तरह समझते थे। इसीलिए उन्होंने बार-बार 'वाद' के साथ अपना नाम लपेटने में अड़चन का अनुभव किया परन्तु युग न माना और उसने आज उनकी विचार-धारा को 'गान्धी-वाद' संज्ञा देकर शान्ति ली।

'गान्धी-वाद' पूर्ण रूप से सत्य, अहिंसा और सत्याग्रह पर आधारित है। और यहीं सब 'गान्धी-वाद' के मूलभूत सिद्धान्त की महती आवश्यकता पर जोर भी दिया है। परन्तु सत्य और अहिंसा, भारतीय मानव-जीवन में नये सिद्धान्त नहीं हैं। ये तो भारतीय-संस्कृति के जाज्वल्यमान ऐसे रत्न हैं जिनपर भारतीयता का सदा से स्वाभिमान है। इसलिए सत्य और अहिंसा की भूमि पर प्रतिष्ठत यह 'गान्धी-वाद' इस राष्ट्र के लिए कोई नवीनता नहीं है। गान्धी जी ने तो इन विस्मृत-ऐसी महानताओं को अपनाकर, समस्त विश्व को अपने साहस, अपूर्व धैर्य, विवेक और अपरिमेय बुद्धि-कौशल के सहारे, पुनः जीवन ऐसा दिया है और यह सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य मात्र का जीवन-लौह इन सिद्धान्तों के पारस-स्पर्श में स्वर्ण बन जाता है। महात्मा बुद्ध और राजर्षि अशोक, इन्हीं सत्य और अहिंसा की कृपा से, आज दैवत्व पा सके। हाँ, गान्धी जी का सत्याग्रह-आन्दोलन, सत्य और अहिंसा के साथ एक नवीनता अवश्य प्रतीत होता है। परन्तु भारतीय संस्कृति की ममतालु गोद में सत्याग्रह भी पला है। वह भी पूर्ण रूप से प्रह्लाद के सत्य-आग्रह का एक परिवर्तित रूप है। प्रह्लाद ने अपने निरीश्वर-वादी पिता के समक्ष अपने जीवन-सत्य को, जिसे उसने अपनी किशोरावस्था ही में प्राप्त कर लिया था, उस 'राम नाम' के सत्य को, सत्य सिद्ध करने के लिए आग्रह किया तथा शान्ति और अहिंसा के सहारे उसे विजय मिली। तब वह आग्रह हमें एक व्यक्ति द्वारा प्रतिपादित, केवल एक व्यक्ति की

उपयोगिता से सम्बन्धित ही दिखाई देता है। महात्मा जी ने उसे इकाई में न रहने देकर, सामूहिक रूप देकर, युग और परिस्थति के अनुसार उपयोगी बनाया। यही महात्मा जी की विशेषता है कि उन्होने तीनों मानवोपयोगी सिद्धान्तों का समन्वय करके उसे विधि-पूर्वक नये ढंग से रखा तथा उनका उपयोग भी नये क्षेत्र में किया।

कुछ लोग गान्धी जी को अद्वैत-वादी मानते हैं और अपने मत की पुष्टि में यह कहते हैं, कि वे संसार के समस्त जीवों के हृदय में एक ही ईश्वर का निवास मानते थे। किन्तु इस कथन के साथ वे उन्हें ज्ञान-मार्गी न मानकर भक्ति-मार्ग के अनुयायी कहकर अपने ही कथन का स्वतः खण्डन भी कर देते हैं। यथार्थ में भक्ति-मार्गी, अद्वैत-वाद में विश्वास नहीं करता। वह निश्चय-पूर्वक द्वैत मतावलम्बी होता है। गान्धी जी भी "मैं सेवक, सचराचर रूप-राशि भगवन्त" के प्रतिपादक थे। उनकी सम्मति में ईश्वर, जीव और जगत में घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः उनका जगत के जीवों के साथ एक-रूपता प्राप्त करने के लिए लालायित होना स्वाभाविक जान पड़ता है। यथार्थ में यही उनका दर्शन भी है। वे मानव-सेवा में ही ईश्वर की सच्ची भक्ति को देखते थे। जन-सेवा हीन भक्ति, उनकी सम्मति में एक दिखावा था।

इसी सिद्धान्त को सामने रखकर, उन्होंने सदैव दूसरों के दुखों की निवृत्ति के लिये उन दुखों को अपने ऊपर ले लेने पर जोर दिया है। उनके मत में एक का क्लेश-निवारण, अर्थ-हीन था। वे तो मानव-मात्र के मोक्ष की कामना करते थे। और कामना के साथ उसे कार्य-रूप में भी अपनाते थे।

अपने इस सत्य की प्राप्ति-कामना के लिए गान्धी जी ने काल और परिस्थिति को ध्यान में रख कर, सत्याग्रह को ही एक मात्र आधार माना। और सच्चे सत्याग्रही की सफलता के लिए उसकी आहिंसात्मक प्रवृत्ति होना बहुत आवश्यकीय हैं। इसीलिए अहिंसा का यथाथ मूल्यांकन करके उसे मानव-हृदय में प्रतिष्ठित करने के लिए सदा जोर दिया है। उनकी इस अहिंसा को कुछेक गरम दलीय व्यक्ति, कायरता और भीरुता की जन्म-दात्री कहकर अग्राह्य मानते हैं। किन्तु वे ऐसा कहते हुए यह विस्मृत कर जाते हैं, कि अहिंसक-सत्याग्रही में अपरिमेय साहस, कष्ट-सहिष्णुता और अपूर्व निर्भिकता की आवश्यकता भी प्रतीत होती है। और जो निर्भिक और साहसी होगा, उसमें भीरुता के समावेश की कल्पना एक असंगति ही हुई। गान्धी जी आहिंसा को द्वेष, और घृणा तथा अहिंसा को प्रेम मानते थे। और इसलिए अहिंसक प्रवृत्ति के व्यक्ति को शस्त्रास्त्रों का भय दिखाकर, न तो भयभीत ही किया जा सकता है और न शस्त्र और बल के सहारे, अर्थ प्राप्ति हर तरह सम्भव हो सकती है परन्तु मानव का प्रेम और विश्वास तथा उसकी आत्मा पर विजय, हिंसा के भय से कभी सम्भव नहीं।

अहिंसा के सम्बन्ध में विवेचना करते हुए श्री गगन बिहारी मेहता का यह कथन उद्धृत करना नहीं भुलाया जासकता—कि "अहिंसा स्वयं एक क्रान्ति-कारी विचार है। उसके प्रभाव ने राष्ट्र के जीवन में हल-चल पैदा कर दी है। यह विचार-धारा भारतीय-राजनीति को ही नहीं, विश्वराज नीति को महात्मा जी की अपूर्व देन है। इसके द्वारा स्वराज्य के लिये ग्राम में, शारीरिक बल-प्रयोग को, वहिष्कृत कर दिया गया है। अहिंसा को अपना

कर, जनता ने राजनैतिक भिक्षा-वृत्ति और हिंसा-वृत्ति दोनों को स्वराज्य प्राप्ति के लिये अनुपयुक्त और त्याज्य करार दे दिया है।

यहाँ एक बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि महात्मा जी ने अहिंसा को कभी नीति के रूप में न तो स्वीकार ही किया है और न वे इसे एक राजनैतिक चाल ही समझते थे। वे तो सदैव अहिंसा को एक धर्म के रूप में ग्राह्य करते चलने के पक्ष में रहे हैं। और उन्होंने इसे सदैव धर्म के रूप में अपनाया भी है।

गान्धी जी ने अहिंसा के यथार्थ स्वरूप को अपने भाषणों और लेखों में सदा ही सुस्पष्ट करते चलने का प्रयास किया है क्योंकि वे यह भली तरह समझते थे कि अहिंसा शब्द जितना भाव-गम्य है उतना सरल उसे समझ सकना नहीं है।

अहिंसा के सम्बन्ध में श्री नेहरू-कृत 'मेरी कहानी' से उद्धृत यह भाग भी उसे समझने में बहुत सहायक होगा—
"अहिंसा यह कर सकती है या नहीं, यह मैं नहीं जानता। मेरा ख्याल है कि वह हमें बहुत दूर तक ले जा सकती है। लेकिन इस बात में मुझे शक है कि वह उस अन्तिम ध्येय तक ले जा सकती है। हर हालत में, किसी न किसी किस्म का बल-प्रयोग तो लाजिमी मालूम पड़ता है। क्योंकि जिन लोगों के हाथ में ताकत और खास अधिकार मालूम होते हैं वे उन्हें उस वक्त तक नहीं छोड़ते जब तक कि ऐसा करने के लिये मजबूर नहीं कर दिया जाता। या जब तक ऐसी सूरतें पैदा कर दी जायें जिनमें उनके लिये खास हकों का रखना, उन्हें छोड़ने से ज्यादा नुकसान-देह न हो जाये। समाज के मौजूदा राष्ट्रीय और वर्गीय संघर्ष बगैर बल-प्रयोग के कभी नहीं मिट सकते। निःसन्देह हमें बहुत बड़े पैमाने पर लोगों के हृदय बदलने पड़ेंगे। क्योंकि जब-तक बहुत

बड़ी तादाद हमारे हम-ख्याल न होगी, तब तक सामाजिक परिवर्तन के आन्दोलन का कोई वास्तविक आधार कायम नहीं हो सकेगा। लेकिन कुछ बल-प्रयोग करना ही पड़ेगा।

'गान्धी-वाद' का प्रमुख और सर्व-मान्य एक सिद्धान्त व्यक्ति का आत्मिक उत्थान ही है। वास्तव में व्यक्ति की पूर्ण आत्मिक-उन्नति के लिए सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अस्तेय, अस्वाद, निर्भयता आदि गुणों की आवश्यकता है। और चूँकि व्यक्ति, सम्पूर्ण राष्ट्र की एक इकाई हैं, समाज और राष्ट्र की सर्वांगीण उन्नति के लिए, उसकी आत्मिक उन्नति ही, एक मात्र आधार है। और इसी पर मानव की सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा धार्मिक उन्नति, पूर्ण-रूपेण आधारित भी है। यही कारण है कि गाँधी जी आत्म-शुद्धि पर सदा से ही जोर देते रहे हैं।

इस तरह मैं 'गान्धी-वाद' को, शतत विकास-वादी दर्शन और रचनात्मक कार्य-क्रम, दोनों का एक सुन्दर समन्वय मानता हूँ।

सत्य अहिंसा, और सत्याग्रह के पश्चात् गाँधी जी ने खादी-प्रचार और रचनात्मक कार्य-क्रम पर भी, जीवन में जोर दिया है। और उसे अपनाने के लिए कहा है।

खादी-प्रचार तथा खादी-व्यवहार, न कि केवल देश के आर्थिक दृष्टिकोण से महत्व-पूर्ण हैं अपितु इसका राजनैतिक एवं नैतिक महत्व भी है। इसलिए खादी-व्यवहार भी गांधी-वाद का एक विशिष्ट अंग है। यह सच है कि इस मशीनी-युग में, हाथ से काती हुई खादी का व्यवहार, आर्थिक दृष्टि से अधिक महत्व शाली न भी माना जा सके और उसे सामाजिक जीवन की प्रगति में एक बाधक भी मान लिया जा सकता है परन्तु इस बात

को कभी भुलाया नहीं जा सकता कि खादी के जन-व्यवहार ने लोगों की विचार-धारा में एक क्रान्ति पैदा कर दी है। उसने जन-साधारण में सादगी से जीवन बिताने की प्रवृत्ति को बल दिया है। तथा हाथ से सूत कात कर, खादी का व्यवहार करने वाले व्यक्ति के हृदय में, कार्य करने की अभिरुचि तो निश्चित ही बल पाती है। यही प्रवृत्ति उसकी आत्म-शुद्धि में बहुत सहायक सिद्ध होती है। इसी विकासोन्मुखी सिद्धान्त के नाते, गांधी वाद में रचनात्मक कार्यक्रम को भी विशिष्ट स्थान है। सत्य अहिंसा और सत्याग्रह के साथ ही साथ, रचनात्मक कार्य को नहीं भुलाया जा सकता। इससे मानव-मन में आत्म-विश्वास, कार्य करने की क्षमता, कौशल-कला नवीन-जाग्रति और नये जीवन का संचार होता है, इसलिए उसके विश्वास में इससे महान् सहायता मिलती है।

अन्त में गांधीवाद के सम्बन्ध में आचार्य कृपलानी के शब्दों को ज्यों का त्यों उद्धृत कर इसे अधिक स्पष्ट कर देना उचित जँचता है। वे लिखते हैं कि—

"गांधी-वाद का एक मात्र स्तर यह है कि हमारी आधुनिक दुनिया पुनर्निर्माण की अपनी सभी योजनाओं के साथ सामाजिक आर्थिक, राजनैतिक तथा धार्मिक-संघर्षों और विरोधाभासों को जो कि आज मौजूद हैं दूर कर सकती है। तथा यह है कि ये संघर्ष और विरोधाभास उस आधार पर दूर नहीं किये जा सकते, जिस पर उन्हें दूर करने का प्रयत्न किया जा रहा है। उन्हें सिर्फ तभी अलग किया जा सकता है जबकि व्यक्ति और सामूहिक राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक, आर्थिक-जीवन में, नैतिक सिद्धान्तों और नैतिक-मापों का सिर्फ 'सेट' हो।

गान्धी जी से हमें संयुक्त नैतिकता के आधारभूत सिद्धान्त प्राप्त हुए हैं उन्होंने आन्दोलन का नाम सत्याग्रह दिया है। मन की यह खोज केवल मात्र अहिंसक-सिद्धान्तों द्वारा ही की जा सकती हैं। हिंसा के आगे पीछे चल कर असत्य और अनीति का जन्म होता है। बुद्ध और ईसा के ही स्वर में गाँधी जी कहते हैं कि हिंसा और घृणा द्वारा, हिंसा और घृणा पर विजय पाना सम्भव नहीं शैतान, शैतान का नियंत्रण नहीं कर सकता, यही गांधी जी के दर्शन का स्तर है"।

इस तरह गांधी-वाद सत्य, अहिंसा और सत्याग्रह के सिद्धांतों के ऊपर आधारित एक ऐसा दर्शन है जिस में सर्व प्रथम व्यक्ति की नैतिकता को तथा उसके आत्म उत्थान को सर्व श्रेष्ठ माना गया है। व्यक्ति के सर्वांगीण-विकास एवं उसकी आत्म-शुद्धि पर ही गांधी-वाद की सृष्टि प्रतिष्ठित है। और यह अक्षरशः सत्य भी इसलिए है क्योंकि नैतिकता और सच्चरिचता से अनैतिकता का कोई सम्बन्ध नहीं। साहसी और निर्भिक अना-चारिता से भयभीत नहीं हो सकता। उसका पशु-बल कुछ कर नहीं सकता। और जिसने जीव-मात्र में एक ईश्वर की प्रतिष्ठा के सत्य से साक्षात् पाया, उससे एक-रूपता बढ़ा ली है तथा जिसे पर दुख अपने ही दुख प्रतीत होने लगे हैं, वह किसी से द्वेष, ईर्ष्या और घृणा की हेय-भावनाओं को अपने हृदय में

स्थान दे ही कैसे सकता है ? और जो इन सब संकीर्ण-भावनाओं से मुक्त होकर, अपनी आत्मा के विकास-पथ पर, मानव-स्नेह और जीव-ममता के मुक्त वातावरण की स्वस्थ्य-वायु से, स्व-प्राणों को शक्ति-शाली बनाता हुआ, सच्चे-मानव की तरह रचनात्मक कार्यों द्वारा, अपनों के सुख-दुखों में हाथ बटाता हुआ, चलता चला जाता है, वही सच्चा गांधी-वादी है और यथार्थ में उसी ने गांधी वाद को ठीक प्रकार से समझ भी पाया है।

—०—

हिन्दी-काव्य-धारा

कवि, वैज्ञानिक एवं दार्शनिक की भांति ही सत्यान्वेषी होता है। किन्तु वह अपने प्राप्त-सत्य को, अन्य सत्यान्वेषियों की तरह ज्यों का त्यों प्रस्तुत नहीं कर देता। वह अपने निर्णीत-सत्य को, जिसे उसने अपने मनन, चिन्तन एवं अनुभव के द्वारा कल्पना के हाथों पाया है, सुन्दरातिसुन्दर ढङ्ग से प्रेषित करता है। उसकी कथोक्ति संसार में अपनी ही होती है। उसकी शैली सरस, सहज, गम्य और हृदय-हृदय को स्पर्श कर, उसे अपने ही रंग में रँग देने की पूर्ण दक्षता रखती है। पाठक और श्रोता, कवि के साथ हँसते और रोते हैं, गाते और गाते-गाते मौन हो जाते हैं तथा सोचते और समझते हैं।

जहाँ यह, परिस्थिति-जन्य प्रभाव से प्रभावित होता है वहाँ वह उस चन्दन के वृक्ष की तरह, निर्विकार और निर्लिप्त रह कर भी अपनी सुरभि को यथाविधि संचित किये रहने में समर्थ होता है, जो, अपने जीवन के साथ, विषधरों और नागों का सहवास लेकर विश्व में अपनत्व को बनाये रखता है। यह सच है कि कवि की काव्य-सृष्टि स्वान्तः सुखाय ही होती है और रचना के समय उसका अपना ध्येय किसी आदर्श-प्रतिष्ठा की कामना नहीं रहता। वह तो परिस्थिति और काल से प्रभावित हो, अनायास ही गा उठता है। उसके ऐसे स्वान्तः सुखदायी गीतों में, विश्व अपने आदर्श को ढूँढ ले, यह एक पृथक बात है।

हिन्दी की काव्य-धारा, हिन्दी-गद्य-धारा के साथ, उसके समान्तन्तर ही प्रवाहित होती चली आ रही है। जब मनुष्य की बोली ने सुसंस्कृत भाषा का रूप नहीं पाया था, उस समय से ही, मानव-अन्तर की भावनाओं का दर्शन, लोक-गीतों के सरस-स्वर में होता चला आ रहा है। कविता का मानव-हृदय से बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है। भले ही कोई उसे—सत्यं, शिवं और सुन्दरं—की समष्टि बता कर, समझ की राह में अधिक उलझन पैदा करदे या उसे, "संगीत मय विचार" कह कर अधिक दुरूह बना दे किन्तु ऐसा करने से, उसे न तो कोई हृदय से पृथकता ही दे सकता है और न शब्दों की दीवारों में बंद कर, उसे पूर्ण रूप में समझा ही जा सकता है। काव्य, तो सदा काव्य ही रहेगा और उसे समझने में मानव-हृदय ही भली तरह समर्थ होगा। गूँगा, जिस प्रकार गुड़ के सुस्वाद को, दूसरों पर व्यक्त करने में सदव स्वतः को असमर्थ पाता है उसी तरह प्रत्येक साहित्यकार, काव्य के यथार्थ गुण और उसके स्वरूप, दर्शन को शब्दों की रेखाओं से बांधने में, अपने को विवश पाता है। काव्य को समझा जा सकता है, उसे भली तरह अनुभव किया जा सकता है, परतु वह क्या है, यह कह कर भी, भली और सही तरह, कहा नहीं जा सकता। इसलिये काव्य और कवि की परिभाषाओं में अधिक न पड़कर, केवल इतना कह देना ही पर्याप्त दिखता है कि, सुंदर, सरस एवं मानव-हृदय को स्पर्श कर, उसे स्पन्दित बना देने वाली तथा क्षण-भर के लिए इस इतर सृष्टि से विस्मृति दिला कर, उसे किसी अन्य आनंद सिंधु में खींच ले जाने में समर्थ, कथोक्ति ही श्रेष्ठ और यथार्थ काव्य है। भले ही वह गद्य हो अथवा पद्य। इसी तरह जो, ऐसी सरस, आह्लादका-

रिणी, सुंदर, प्रभावोत्पादक और स्पंदनशील उक्ति की रचना करता है वही कवि है।

यथार्थ में ऐसी सरस भावनायें, मानव के जन्म-काल से ही उसके जीवन में उद्भूत होती चली आ रही हैं। मानव के ज्ञान भंडार में, हिंदी का इतिहास यदि उनकी सम्हाल से हाथ टेक दे तो इसका यह अर्थ नहीं होता कि तब काव्य का जन्म ही नही हुआ था। मानव अपने उद्भव काल से, अपने साथ, चतुर्दशी संघर्ष लेकर चलता चला आ रहा है और इसीलिए उसकी हृदतंरी के तारों का स्वर, कभी भी और किसी भी युग में स्वरित हुआ है यह निर्विवाद है। यह एक दूसरी बात है कि किसी भाषा की अनुपस्थिति और हमारे ज्ञान की संकीर्णता से हम उसे स्थायित्व देने में सफल नहीं हो सके। काव्य तो चिरंतन है अविनाशी है तथा कवि है चिरजीवी, अमर-कलाकार।

इसलिए हिन्दी की काव्य-धारा का हिन्दी-भाषा के जन्मकाल से माना जाना युक्ति-सङ्गत है। हम जब हिन्दी के इतिहास की आँखों देखते हैं, तब पता चलता है कि हिन्दी के प्रारम्भिक काल में, जिसे हम अपभ्रंश-कालीन-युग मानते हैं, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मतानुसार वीर-गाथा, काल से ही, उसका यथार्थ उद्भव होना, निश्चित होता है। यह युग, भारतीय-मानव जीवन के लिए विदेशी शक्तियों के आक्रमण का युग रहा है। इसलिए यहाँ के निवासियों को, सदा ही उनके आक्रमणों से लोहा लेने और उनका सामना करने के लिये, तत्तपरता शौर्य और पराक्रम की आवश्यकता थी। वह युग निश्चित ही ऐसी ही अनेक विचार धाराओं से ओत-प्रोत था, ऐसी धारणा अनुचित नहीं जँचती। और इसलिये ऐसी परिस्थिति से प्रभावित होकर, भावुक, सहृदय

विवेकी तथा प्रतिभाशाली व्यक्तिका, गा उठना, स्वाभाविक हो जँचता है चन्द वर दाई का पृथ्वीराज रासो, उस युग के प्रभाव की विशिष्ट देन है। इसमें दिल्लीपति पृथ्वीराज चौहान की कीर्ति-गाथा का बहुत ही सरस एवं उद्‌बोधक वर्णन है। महाकवि ने अपने समय में जो कुछ देखा और उस अवलोकन से, उसके हृदय पर जब जैसा कुछ प्रभाव पड़ा, उन्होंने तब, वैसा ही गान गाया। वही सब गान, महाकवि की, वे ही सब अनुभूतियाँ कल्पनायें और अंतर-प्रेरणायें पृथ्वीराज रासो के रूप में, हिन्दी विश्व के समक्ष हैं। उसकी अमूल्य निधि है। इसी प्रकार हम्मीर की वीरता-पूर्ण मनोवृत्ति और उनके लोकोपयोगी-जीवन-आदर्शों के सत्य को महाकवि की रचनाओं में प्रतिष्ठा मिली है-महाकवि रचित वीर, काव्य की दो पंक्तियाँ इस प्रकार है :—

चलिअ वीर हम्मीर, पाँअभर, मेदणि कंपइ।
दिग मग शाह अंधार, धूलि सुर रह आच्छाइहि ॥

इस युग के कवि की दृष्टि, युद्धोद्‌बोधन एवं नारी-प्रेम-वर्णन पर ही प्रधानतः केन्द्रित थी। और वह तब मुक्तक तथा प्रबंन्ध, दोनों प्रकार के छंदों में अपनी काव्य-रचना का प्रेमी था । यह भी सच है कि अनेक फुटकल रचनाओं ने भी इस समय सृष्टि पाई और उनमें पहेलियाँ, कुछ दोहे तथा गीत प्रमुख थे।

सन् १३७५ से १७०० तक, शुक्ल जी ने भक्ति-काल का समय निश्चित किया है। यथार्थ में युग के साथ, मानव-भावनाओं और उसकी विचार-धारा में परिवर्धन होता है। यह ऐसा समय था जब देश, यवन-जाति के शासन में था और इसके निवासी, शाशितों का जीवन व्यतीत कर रहे थे। यत्र-तत्र, स्वदेश रक्षा और स्वोत्थान के लिए प्रयास चल रहे थे परन्तु अधिकांश

भाग, शासन की श्वासों जीता हुआ, उसके संकेतों पर ही चलता था। मानव के जीवन में, चारों ओर संघर्ष का स्थायित्व था और भारतीय संस्कृति को एक विशेष संकटापन्न परिस्थिति से होकर जाना पड़ रहा था। फलतः मानव-हृदयों और उनके विचारों में संघर्ष जागा और उसके जीवन में क्रांति ने आँख खोली। शनैः शनैः यहाँ के लोगों की मान्यताओं और विश्वासों में परिवर्तन हुआ। जन श्रद्धा खण्ड-खण्ड हुई तथा "एको ब्रह्म द्वितिय नास्ती" के साथ अनेक देवों की सृष्टि हुई! और हमारे सामने द्वापर के कृष्ण तथा त्रेता के राम पुनः एक बार अवतरित हुए। श्रद्धा-और विश्वास का विभाजन हुआ।

अनेक सम्प्रदायों, मत-मतांतरों और पंथों ने जन्म पाया तथा मानव-कल्याण को भावना लेकर, नवीन आदर्शों की सृष्टि भी सम्भव हुई।

जहाँ गोस्वामी तुलसीदास ने बिश्रृंङ्खल समाज, पथ भ्रष्ठ-जाति और अकमण्य-मानव-समाज के कल्याणार्थ रामचरित मानस ऐसे महान् काव्य ग्रन्थ की रचना, अपना जीवनादर्श समझा, वहाँ महाकवि सूरदास ने भारतीय-कौटुम्बिकता को जीवन देने के लिये बालकृष्ण से सम्बन्धत अनेक सरस पदों की रचना की और मानव-हृदय में शिशु-ममता और सन्तान-स्नेह का दृढ़ता दी। इसका यह परिणाम हुआ कि राष्ट्र और समाज के बाल वर्ग में, माता-पिता के प्रति प्रेम और श्रद्धामयी सद्भावना जागी तथा यहाँ का एक-एक नर-नारी, नंद और यशोदा बनकर, स्वसंतान के सर्वतो मुखी कल्याण का विश्वासी हुआ। विस्मृत होतो जाने वाली ममता पुनः शिशु स्नेह की दीवानी बनगई। गोस्वामी जी के राम चरित मानस ने हृदय-हृदय में

रक्त बिंदु बनकर प्रवेश किया जिसके फलस्वरूप, नैतिक-उत्थान, मानव-प्रेम, कौटुम्बिक-प्रियता, मानव समता और सदाचारता आदि सद्गुणों के प्रति मानव मन का आकर्षण तो हुआ ही, साथ ही अनाचार दासता हिंसा और पापाचार के प्रति घृणा और विद्रोह भी जागा। इस प्रकार, महाकवियों ने भारतीय संस्कृति की नौका को, उस के इस संकट-कालीन समय में, निर्विघ्न गतिवान बनाये रखा और स्वतः एक सिद्ध हस्त नाविक की तरह उसे पथ-भ्रष्ठ होने से बचाया।

इसी युग में, कबीरदास जी की साखियों और रहस्यात्मक वाणी ने, अज्ञान के अंधकार में विलुप्त ईश्वर रहस्य को, अपनी सरल, भावगम्य और व्यावहारिक भाषा द्वारा, सर्वस धारण को हस्तामलक ऐसा सुगम कर दिया। इनके मर्मस्पर्शी एवं भेद पूर्ण दोहों से, मानव के जीवन की उलझी हुई गुत्थी, बहुत कुछ सुलझ गई। इस तरह द्वैत और अद्वैत तथा निर्गुण एवं सगुण पासना के द्वन्द युग में कबीर अपनी एक नयी विचारधारा लेकर आये तथा उनके रहस्य वाद ने, मानव-जीवन में अपना एक विशेष स्थान बना लिया।

और इस तरह, इस अनुमानित, भक्ति-काल में तुलसीदास का रामचरित मानस तथा अन्य काव्य-ग्रन्थ, सूरदास जी के सहस्त्रों सरस-पद, एवं कबीरदास जी के दोहे, मानव को ज्ञान-भूमि पर त्रिवेणी बनकर अवतरित हुए तथा मानव-मन, हृदय और मस्तिष्क को अपने ज्ञान-नीर से, नवीन, जीवन, जीवन-दृढ़ता एवं अमरत्व प्रदान किया।

तदन्तर, भक्ति काल के साथ ही राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक परिवर्तनों के कारण, काव्य-क्षेत्र में रीति-काल ने जन्म

लिया। नारी-प्रेम आकर्षण और उसके सुन्दर-रूप के दर्शन की लालसा मानव के साथ सदा से चलती चली आ रही है किंतु परिस्थिति ने उसे वीर-गाथा काल में, अधिक शक्ति-शालिनी नहीं होने दिया। युग की पुकार ने पृथ्वीराज को रङ्गमहल के भीतर अधिक समय तक रंगरेलिया नहीं मनाने दीं और उन्हें वहां से निकाल कर, युद्धस्थल में लाकर खड़ा किया। यह परिस्थिति की जटिलता का परिणाम था, अन्यथा तब भी मनुष्य का विवेक, नारी-प्रेम का अन्ध-भक्त बना हुआ था।

भक्ति-काल में भी, मानव की यह आसक्ति और वासना-प्रवृत्ति, नवाब और यवन शाहशाहों के साथ क्रीड़ा करती रही। यवन-कालीन सुन्दर व भव्य अट्टालिकायें, और भवन, उसी नारी-आकर्षण के जागृति प्रतीत हैं। परन्तु इस समय हिंदी विश्व में, भारतीयता के क्षेत्र में, अभी भी. प्रेम और वासना, मद-माते नेत्रों तथा रक्तम कपोलों ने, अपना प्रभाव नहीं जमा पाया था। वह युगों-युगों से भारतीय मानव-मन के भूगर्भ में शतत प्रवाहित होती रहने वाली जल-धार की तरह, अबाध गति से हर युग में गतिवान रही है।

वैसे मनुष्य स्वभाव से ही प्रेमी और ममतालु है क्योंकि वह हृदयवान है। और प्रेम तथा ममता मानव-हृदय के प्रमुख व्यापार हैं। परन्तु वीर-गाथा काल और भक्ति-काल में, इसके पूर्ण रूप से दृश्य न होने का प्रमुख कारण, युगीन अनुपयुक्त वातावरण ही कहा जा सकता है। किंतु जैसे ही संपूर्ण देश में यवन साम्राज्य का आधिपत्य हुआ, और उनकी संस्कृति की युवावस्था के दिन आये, वैसे ही अधिकांश भारतीय पौरुष, विवेक, साहस, राष्ट्र-

प्रेम, ज्ञान आदि सभी महानताएं, श्रीपति और शासनपति के घर उसकी आधीनता में जीवन पाने लगे। और जब लघुप्राणों ने इस आँधी के समय, अपनी आदर्श भूमि पर पैर जमाये रखना, असम्भव देखा तब वे भी युगीन वायु-गति के साथ चल पड़े। इसके परिणाम स्वरूप, हिंदी के काव्य क्षेत्र में रीति-काव्य ने आँख खोली, फिर अंगड़ाई ली और उपयुक्त वातावरण पाकर वह एक नवयौवना किशोरी की तरह, अल्हड़ गति से स्वेच्छा पर चल पड़ी। इस समय जिन रसिक, रीति-काव्य विधायकों ने नारी-प्रेम और नायिका-भेद तथा उसके नख-शिख कटि, नितम्ब व गति का साकार वर्णन कर, अपनी काव्य-प्रतिभा के दर्शन कराये, उनमें महाकवि बिहारी, केशव और देव प्रधान हैं।

देव ने तो नारी के अलंकारों को देखकर, कविता को भी नाना अलंकारों से विभूषित किया तथा छन्द व रस के विवेचनात्मक निरूपण के साथ नायिका के भेदों—प्रभेदों को जन्म दिया और इस प्रकार कविता के श्रंगार क्षेत्र में, एक अभूत-पूर्व क्रांति ही लादी। महाकवि देव ने कहा—

भूषन, जोबन, रूप, गुन विभव, शील. कुल-प्रेम।
आठो अंग, स्वकियाहि, के परकिय बिन कुलनेम॥
सामान्या बिन शील, कुलप्रेम विभो पहचानि।
भूषन जोबन, रूप, गुन, सहित उत्तमा जानि॥

और जब युग कवि की आँख नारी-रूप मे उलझी तब उसकी दृष्टि में विश्व के अन्य व्यापारों की महत्ता स्वभावतः घट गई। और देश प्रेम, नैतिकता, चारित्र्यक-गठन, ऐसे महान लोकोपयोगी

सद्भावों पर कुछ सोचने के लिए उसे अवकाश ही नहीं रहा जैसे वह तो यही देखता और गाता रहा कि—

भूषनानि भूलि, पैन्हे उल्टे दुकूल 'देव',
खुले भुजमूल. प्रतिकूल विधि पंकमें।
चूल्है चढ़ै छाँड़े, उफनात दूध भाँड़े,
उन सुत छाँड़े अंक, पति छाँड़े पर जंकमैं ॥

उनकी दृष्टि तो इससे भी अधिक और भाव निरूपण में निरत रही। देखिये—

"एकहि बार-रही जकि ज्यों कि त्यों,
भौंहनि तानि कै मानि महा दुख।
'देव' कछू रद बीरी दबी री,
सुहाथ की हाथ रही, मुख की मुख ॥"

और इस तरह उनको तूलिका से पर-नारी के संयोग-क्षणों की योग-साधना से भी अधिक कठिन बता कर अपने नारी-प्रेम अनुभवों को, मूर्त किया।

"भूले हू न भोग बड़ी विपति वियोग विथा,
जोग हू तें कठिन, संयोग पर नारी को।"

जिस राष्ट्र के कवि और महा-कवि, ऐसे सत्य को सर्व-साधारण को सुना कर, नारी-प्रेम के जागरण का सं देश देते फिरें, भला वहाँ के मानवों का मन, खेतों-खलिहानों, कर्म क्षेत्रों और युद्ध स्थलों में कितने दिनों टिका रहता ? और यदि वह राष्ट्र, अपना जीवन पराधीनता के बन्दीगृह में न काटता, तो एक आश्चर्य ही होता।

महाकवि बिहारी की सूझ-बूझ तो निराली ही थी। उन्होंने इस शृंगारिकता को देव की तरह सीधो-साधी और नग्न सत्य के रूप में प्रस्तुत नहीं किया। सम्भवतः इन्होंने देव से भी अधिक प्रेमानुभवों और कामिनी-भावभंगिमा का दिग्दर्शन किया है किन्तु उन्होंने श्री राधा-कृष्ण ऐसे उच्चादर्शों और सर्व-मान्य व्यक्तित्वों को सामने रखकर, अपने मन की प्रेरणाओं, कल्पनाओं तथा अनुभूतियों को बहुत ही बुद्धिमानी के साथ प्रस्तुत किया है। वे बहुत सरलता से, अपने अन्तर-सत्य को, राधा-कृष्ण की ओट लेकर बड़े सुन्दर ढंग से कह गये—

"शीश, मुकुट, कटि काछनी, कर मुरली, उर माल,
यहि बानक, मो मन बसौ, सदा बिहारी लाल ॥"

'बिहारीलाल' लिखकर प्रेमी और भक्त पुरुषों को एक साथ तुष्टि देना, बिहारी ऐसे कवि का ही कार्य था।

वे वियोगी की विवशता का जैसा मार्मिक भाव-प्रदर्शन कर गये, वह इस निम्नांकित दोहे में देखिये—

"जिन दिन देखे वे कुसुम, गई सुबीति बहार,
अब अलि रही गुलाब की, अपत कटीलो डार ॥"

कहीं, उसी वियोगी-हृदय को सान्त्वना देते हुये, भृंग को लक्ष्य करके गा उठेः—

"अइहैं फेरि बसन्त-ऋतु इन डारन वे फूल।"

यह सच है कि महा-कवि बिहारी के दोहे दो-अर्थी होने के कारण, सर्वाधिक लोक-प्रिय हुये हैं और उनमें—"जाकी रही भावना जैसी, प्रभुमूरति देखी तिन तैसी" के अनुसार व्यक्ति की भावना के अनुसार भावों का समावेष है। और इसीलिये उनके

काव्य में शृंगारिकता के साथ अध्यात्मिकता तथा ईश्वर प्रेम की झलक के दर्शन होने ऐसी बात कही जा सकती है। किन्तु यह काल भी बहुत ही स्मरणीय रहा है। जहाँ एक ओर ऐसे शृंगारिक कवि-गण, अपनी वासनामयी एवं आशक्ति-पूर्ण काव्य की रचना में व्यस्थ थे, वहाँ दूसरी ओर महाकवि भूषण, अपनी ओजस्वी-वाणी में, जाति व देश की रक्षा के लिये, अपने काव्य में अभूर्त पूर्व उद्बोधन लेकर, छत्रपति-शिवाजी को पद-पद पर सफलता का बरदान दे रहे थे। जहाँ रीति-काव्य के प्रणेता, परिस्थिति के समक्ष, विनत होकर उसके इंगित पर अपने स्वर, स्वरित कर रहे थे, वहाँ, परिस्थिति से लोहा लेते हुये, भूषण कवि एक निलिप्त, योगी की तरह, अपनी कल्पित, किन्तु निर्दिष्ट मँजिल की ओर, अवाध-गति से निरन्तर पैर बढ़ाते हुए, चले जा रहे थे। उन्होंने परिस्थिति के समक्ष, झुकना जैसे जाना हो नहीं था। भारतीयता के अनेक उच्चादर्शों को अमर होने का वरदान, भूषण ऐसे महाकवि के काव्य-छन्दों से ही प्राप्त हुआ, इसे किसी भी तरह नहीं भुलाया जा सकता।

इस तरह हिन्दी काव्य की एक धारा, भक्ति और मानवों त्थान के धरातल पर प्रवाहित होती हुई, मानव-मन क स्वस्थ्य और उच्च बनाती हुई चली तथा दूसरी वासना-आसक्ति, एवं चरित्र-हीनता के ऊँचे-नीचे क्षेत्र से बहती हुई, यथाशक्ति प्रेम के गीत गाने में व्यस्त रहीं।

काल और परिस्थिति के अनुसार, मानव जीवन में परिवर्तन हुआ। यवन-शासन के बाद, देश में आंग्ल महाप्रभुओं के आधिपत्य का झंडा फहरा। और भारतीयता को, यवन संस्कृति के सहवास और संघर्षमयी जीवन के साथ ही साथ, पाश्चात्य सभ्यता से मुठभेड़ का अवसर आया! यहाँ के हिन्दी भाषा-भाषी

आणों को कट्टर-धार्मिकता के बन्धन से मुक्ति ऐसी मिली। राज-दरबारों और वीरों की कीर्ति-गाथा की प्रवृत्ति तो अपनी रुग्णा-वस्था के दिन काट रही थी। युग के साथ ही साथ, कवि भी बदला। उसकी वाणी ने अपनी भाषा में कुछ दिनों तक तो भक्ति और रीति कालीन ऐसी, प्रेम-भावनाओं की लकीरें पीटीं, परन्तु पश्चात्यता के साथ घुल-मिल जाने पर, कवि ने अपने वर्तमान को, अपने विवेक, अनुभव और सूझ की मथानी से मथन किया और अपने शतत-प्रयास के फल-स्वरूप, उसे नवीन आदर्शों नव-मान्यताओं, एवं नये कर्त्तव्य-पथों का नवनीत, हाथ लगा। युग ने अनेक असमानताओं, रूढ़ियों और अग्राह्यताओं को त्याग दिया तथा नई विचार-धारा, कार्य-प्रणाली और रहन-सहन को जीवन में स्थान दिया। इस प्रभाव से कवि-हृदय भी अपने को अछूता न रह सके और उनकी वाणी में भी नवीनता ने स्थान बना लिया। छन्द, दोहों और सवैयों की दुनियाँ उजड़ने लगी। विगत कालीन कवि की दृष्टि, वाह्य-विश्व से हटकर, इस युग से मानव अन्तर की प्रवृत्तियों और भावनाओं की प्रथम निरीक्षिका तथा प्रदर्शिका बनी।

कुछ समय तक वीरगाथा-काल की नाईं, यहाँ की प्रतिभा ने आंग्ल-प्रभुओं की कीर्तिगाथा में समय व्यतीत किया, किन्तु यह समय बहुत ही न्यून था और इस समय, ऐसी कोई विशिष्ट रचना नहीं हुई जिसने युग के मन-प्राणों को प्रभावित कर अपने ही प्रभाव में युगों बहाते चलाने की क्षमता बताई हो।

परतंत्रता और विदेशी संस्कृति की अहितैषिनी प्रवृत्तियों से जब, यहाँ के इन्सान की साँस घुटने लगी और ज्ञान ने, भारतीयों की आँख पर बँधी हुई पट्टी खोली, तब उन्हें स्वदेश-गौरव, स्वजाति-

उत्थान एवं स्वशक्ति के दिव्य-दर्शन हुए। उन्हें ऐसा लगा जैसे भारतीयता, पतन के गड्ढे में दिन प्रति-दिन गर्त होती चली जा रही है और यहाँ का व्यक्तित्व विनाश-पथ पर अन्ध-पथी की तरह, पाश्चात्य-विचारों के संकेत पर, चलता चला जा रहा है।

तब हिन्दी का कलाकार विह्वल हो उठा और हिन्दी की काव्य-धारा का स्वरूप ही नया होकर सामने आया। इस नवीन-धारा के प्रथम उत्कर्ष में बाबू हरिश्चन्द्र का नाम ही अग्रगण्य है।

इन्होंने हिन्दी-गद्य को नवीन और बहुत कुछ संस्कृत स्वरूप दिया इसीलिए इन्हें हिन्दी-गद्य का निर्माता माना जाता है। पद्य की वृद्धि हेतु, इनके अथक प्रयास एवं सच्ची लगन के कारण, अनेक कवि-समाजों का निर्माण हुआ और बहुत कुछ शुद्ध खड़ी बोली में कविता की जाने लगी। वैसे भारतेन्दु जी ने कुछ काव्य रचनायें राज्य-भक्ति से सम्बन्धित भी कीं किन्तु देश-भक्ति स्वजाति-उत्थान, एवं भारत-दशा की यथार्थ चित्रदर्शी रचनायें, अधिक मात्रा में व लोकप्रिय भाषा में कीं। और हिन्दी काव्य को विकासोन्मुखी पथ पर अग्रसर किया। इनके समकालीन श्री प्रताप नारायण मिश्र ने भी हिन्दी की बहुत सेवा की तथा उन्होंने खड़ी बोली में हास्य रस की रचनायें कर, हिन्दी-काव्य-क्षेत्र को गौरान्वित किया।

जैसे-जैसे समय बीतता, गया वैसे-वैसे हिन्दी-काव्य, विदेशी संस्कृति से प्रभावित हो गया और इस प्रभाव के परिणाम-स्वरूप युगीन कवियों ने स्वदेश-प्रेम से ओत-प्रोत राष्ट्रीय-रचनाओं का श्रीगणेश किया। यहाँ की समाज-व्यवस्था बदल गई। रहन-सहन बदला और सामाजिक, राजनैतिक तथा धार्मिक दृष्टिकोण के साथ ही साथ, आर्थिक दृष्टिकोण भी बदल गया। मानव जीवन

में 'वादों' ने प्रवेश किया। काव्य-क्षेत्र भी इससे मुक्त न रह सका और उसे स्वच्छंदता-वाद की भेंट मिली।

श्रीधरपाठक, श्री पं० महावीर प्रसाद जी द्विवेदी, अयोध्या सिंह जी उपाध्याय और बाबू मैथलीशरण गुप्त की देश-प्रेममयी रचनाओं ने राष्ट्र के जीवन में एक क्रांति को जन्म दिया जहाँ द्विवेदी जी ने गद्य को समृद्धिशाली बनाया, वहाँ श्री गुप्त जी ने भारत-भारती, रंगभूमि, जयद्रथ-बध, पंचवटी, साकेत, यशोधरा गुरुकुल और विकटभट आदि अनेक राष्ट्रोपयोगी काव्य-ग्रंथों की भेंट देकर, जन-जीवन में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन ला दिया। गुप्त जी ने पथभ्रष्ट और पाश्चात्यता के पुजारियों की लोलुपता को देखकर, अपनी अंतर्भावना को इन शब्दों में प्रदर्शित किया और अनेक लोलुपों की आँखें खोलीं।

"जिसको न निज गौरव तथा निज-देश का अभिमान है
वह नर नहीं, नरपशु निराही और मृतक समान है।"

वे बोलते ही गये:—

"क्षत्रिय ! सुनों अबतो कुयश की कालिमा को मेट दो
निज देश को जीवन सहित, तन, मन तथा धन भेंट दो"
वैश्यो ! सुनो व्यापार सारा मिट चुका है देश का
सब धन विदेशी हर रहे हैं, पार है क्या क्लेश का ?"

फिर मनुष्य को मानवता से गिरते हुए देखकर वे कह उठे—

"मैं मनुष्य को पशुता की जननी भी कह सकता हूँ
किंतु पतित को पशु कहना भी, कभी नहीं सह सकता हूँ"

गुप्त जी की ऐसी ही अनेक मर्मस्पर्शी, सरस, प्रभावोत्पादक, उद्बोधक एवं प्रेरक कथोक्तियों का समस्त देश ऋणी है। अकेले गुप्त जी ने देश, समाज और जाति के कल्याण हेतु जो कुछ

किया है वह राष्ट्र की स्वतंत्रता-प्राप्ति में अपना अनुपम एवं सम्मानीय स्थान रखता है। उनके महाकाव्य 'साकेत' ने तो तुलसी दास जी के आदर्श राम, लक्ष्मण और सीता को इस युग के व्यक्ति के रूप में चित्रित कर, जीवन में नवीन आदर्शों की प्रतिष्ठा की है। इनकी प्रभावशालिनी काव्यरचना से, भारतीय मानव की बंद आँखें खुलीं। उसकी ढीली और शिथिल पड़ गई बाँहों में बल जागा। प्रभुता और अधिकार के समक्ष अकर्मण्य, नत-मस्तक सगौरव उठे और प्राणों में अन्य स्वतंत्र-राष्ट्र के मानवों की तरह, सुख के जीवन-यापन की अधिकार-भावना, जागी गुप्त जी की काव्य रचना ने इस भावना को शांति दी, धृति और दिया उसे अपने पैरों पर खड़े होने का बल।

गुप्त जी की तरह अनेक कविश्रेष्ठों ने राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत काव्य की रचनायें कीं तथा देश-प्रेम की भावना को सबल बनाया और उसे प्रौढ़ता दी। जिनमें लोचन प्रसाद जी पाँडेय, रामनरेश त्रिपाठी, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', एव रूप नारायण पांडेय आदि का नाम उल्लेखनीय है। किंतु माखन लाल जी चतुर्वेदी की राष्ट्रीय-कविताओं ने तो देश के नव-युवकों में राष्ट्र-प्रेम की ऐसी तेजस्वी एव शक्तिशाली भावना के जागरण का वरदान दिया कि स्वतंत्रता के दीवाने युवक, देश-प्रेम के समुद्र को अपने हृदयों में लेकर जीवन सुखों में आग लगाकर, बलिवग्रों की मस्ती लेकर अपने हाथों पर सिर रखकर निकले। चतुर्वेदी जी की एक यह कविता युवक-युवक के गले का हार हुई और प्राण-प्राण में फलाशा-रहित कर्म भावना की जन्मदात्री भी सिद्ध हुई।

"चाह नहीं मैं सुरबाला के गहनों में गूँथा जाऊँ
चाह नहीं मैं सुरपति के सिर चढ़ूँ, भाग्य पर इतराऊँ
मुझे तोड़ लेना बनमाली, उस पथ में देना तू फेंक
मातृभूमि हित शीश चढ़ाने, जिस पथ जावें वीर अनेक"

उनकी 'जवानी' कविता की कुछेक पंक्तियों का महान आदर्श भी प्रशंसनीय है—

"टूटता जुड़ता समय, भूगोल आया,
गोद में मणियाँ समेट, खगोल आया।
क्या जले बारूद, हिम के प्राण पाये,
क्या हुआ जो प्रलय के सपने न आये ?
धरा यह तरबूज है; दो फाँक करदे।
चढ़ादे स्वातंत्र्य प्रभु पर, अमर पानी
विश्व जाने, तू जवानी है जवानी"

"विश्व है असिका ? नहीं, संकल्प का है।
विश्व का हर कोण, काया-कल्प का है।"

कैसी सुन्दर, उद्बोधक एवं सुलझी हुई वाणी है। उसी कविता की कुछ पँक्तियों में अपनी बेवशा से उद्भूत, खोज पर जब उनका पौरुष और गाम्भीर्य झुँझलाता है तब अनायास वे कह उठते हैं कि—अनाचारिता की मेदिनी को—

"मसल कर अपने इरादों सी,
दो हथेली हैं—कि पृथ्वी गोल करदें।"

ऐसी-ऐसी अनेक क्रान्तिकारिणी रचनाओं के निर्माण से देश को अपूर्व, अपरिमित, शक्ति, बुद्धि, शौर्य, सूझ और प्रेरणा मिली।

इस राष्ट्रीय-काव्य रचना-काल के साथ ही साथ, मानव-अन्तर में समय-समय पर उद्भूत हो उठने वाली प्रेरणाओं, कल्पनाओं एवं सम्भावनाओं के स्पष्टीकरण की क्षमता भी, इसी समय आई ! वाह्यदर्शी कवि, अन्तर दर्शी हुआ। और समाज में

अनेकानेक परिवर्तनों के एक साथ आ जाने से, काव्य-धारा का प्रवाह भी, अनेक पथ-गामी दृश्य होने लगा।

भक्ति और रीति-काल में चलती चली आने वाली काव्य धारा ने, भारतेन्दु के समय स्वदेश-प्रेम और जाति-उत्थान की कामना हेतु गति अपनाई, और वही आंग्ल-सहवास के समय स्वच्छंदता-वाद और फिर छायावाद के रूप में भी, नया वाद बनकर हिन्दी के गौरवाकाश में चार-चाँद लगाने आया। नये छंद और नये स्वरूपों में कबीर का रहस्यवाद भी आया।

छायावाद, हिन्दी के लिए एक दम नवीनता थी इसलिये इसे भी संघर्षों के बीच होकर निकलना पड़ा। पं० महावीर प्रसाद ऐसे साधक-विचारकों तक ने, इसे अपनी आलोचना का विषय बनाकर, इसके सम्बन्ध में अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये कि—"कवि की जो उक्ति किसी की समझ में ही न आवे वही छायावाद है।" यथार्थ में पाश्चात्य कवियों की काव्य-प्रणाली की तरहआध्यात्मिक-प्रतीकवाद के अनुसार ही लिखित, हिन्दी की कविताओं को छायावाद नाम मिलने लगा था। छायावाद को समझने के लिए महादेवी जी का यह वाक्यांश बहुत ही उपयुक्त जँचता है—"स्वच्छन्द छन्द में चित्रित उन मानव अनुभूतियों का नाम छाया, उपयुक्त है। और जिन काव्य-रचनाओं में ऐसी अनुभूतियों का मूर्त चित्रण है वे निश्चित ही छाया वादी है।"

इस छाया वाद के युग में. कविताओं की एक बाढ़ ऐसे आ गई। और अनेक कवि, छायावाद और रहस्यवाद के झमेले में इतने फँस गए कि उनकी रचनाओं में छायावाद और रहस्यवाद का एक साथ समन्वय, देखने को मिला। भले ही उनकी दृष्टि से वह रचना किसी 'वाद' विशेष की परिपोषक ही क्यों न रही हो?

वैसे, विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ की कविता के हिन्दी रूपानार ने ही, हिन्दी-काव्य-जगत को अधिकांश रूप से प्रभावित किया और उन्हीं के रहस्य-वाद से, हिंदी-काव्य को, छायावाद की भेंट मिली। प्रसिद्ध कवित्रियी महादेवी जी वर्मा ने सम्भवतः इस वाद को हिन्दी संसार के समक्ष सर्वप्रथम प्रस्तुत किया और लोगों ने इस नवीन-वाद की ओर आशा युक्त दृष्टि से निहारा।

तदनन्तर, श्री जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्दन जी पंत, पं० सूर्यकान्त जी त्रिपाठी निराला, पं० बालकृष्णजी शर्मा 'नवीन' एवं भगवती प्रसाद वर्मा आदि ने तो अपनी छायावादिनी ललित एवं हृदय-स्पर्शिनी पदावली से, हिंदी-काव्य के संसार में एक क्रांति ही ला दी। देवी जी लिखित 'जीवन-दीप' की ये पंक्तियाँ उनकी छायावादी एवं रहस्यवादी मिश्रित काव्य-महत्ता को परिचायक हैं—

कितने उपकरणों का दीपक
किसका जलता है तेल ?
किसकी वर्त्ति, कौन करता है ?
इसका, ज्वाला से मेल ?

यहाँ कवित्रियी जी का हृदय, जीवन के इस रहस्य को भली तरह समझने में व्यस्त है। उनके समक्ष जैसे एक समस्या है और जीवन-दीप के सम्बन्ध में हर प्रकार की ज्ञातव्यता के लिए वे बहुत प्रयत्नशील हैं। वे उसी कविता में और भी आगे अपनी भावनाओं को इस प्रकार व्यक्त करती हैं—

"इन उत्ताल तरङ्गों पर सह, झंझा के आघात।
जलना ही रहस्य है, बुझना है, नैसगिकवात।"

प्रसाद जी का 'आँसू' तो छायावाद का सर्वोत्तम काव्य-ग्रन्थ है। इस लघु ग्रन्थ की एक-एक पंक्ति से छायावाद की महानता का आभास होता है।

वे लिखते हैं—

"बाँधा है विधु को किसने
दुख की काली जंजीरों से।
मणि वाले फणियों का मुँह—
क्यों भरा आज हीरों से ?"

निश्चित ही आभ्यांतर-प्रवाह का, साम्य के आधार पर, लाक्षणिक और व्यांजनिक-पद्धति का विकास, छायावाद की अपनी विशेषता है।

छायावाद के विकास-काल के साथ ही, श्री रामेश्वर शुक्ल "चंचल," हरिवंशराय 'बच्चपन' नरेन्द्र शर्मा, पं० केशव-प्रसाद जी पाठक, सियाशरण जी गुप्त, शिवमंगलसिंह जी 'सुमन,' 'सनेही' जी पं० सोहनलाल जी द्विवेदी, 'दिनकर' जी, उदयशंकर जी भट्ट तथा गुरुभक्तसिंह जी 'भक्त' आदि कवि श्रेष्ठों ने अपनी नवीन-नवीन छायावादी रचनाओं से, मधुर हृदयग्राही और सरस कविताओं के कारण, सर्वसाधारण के हृदय में, अपना एक विशेष सम्माननीय स्थान प्राप्त करने में सफलता पाई। और इसीलिए इन्हें युग का सर्वाधिक लोक-प्रिय कवि माना गया।

मध्यप्रदेश के ख्याति नाम, पं० भवानीप्रसाद जी मिश्र पं० भवानीप्रसाद जी तिवारी, श्री रामानुजलाल जी श्री वास्तव श्री नर्मदाप्रसाद जी खरे, श्री मुरलीधर जी दीक्षित 'भ्रान्त' पं० ज्वालाप्रसाद जी ज्योतिषी, पं० रामेश्वरप्रसाद जी गुरु,

पं० राजेश्वर जी गुरु एवं विनय कुमार जी 'भारती' की उच्चतम कविताओं से, छायावाद की प्रतिष्ठा में चार चाँद लगे।

श्री रामाधारी सिंह जी दिनकर, ने कुरुक्षेत्र हुंकार, सामधेनी धूपछाँह, चित्तौड़ का साका, आदि वीर काव्य ग्रन्थों को रचना कर, हिन्दी काव्य की एक विशेष त्रुटि की पूर्ति हेतु कोई बात उठा नहीं रखी। और आज भी उनकी कलम अबाध गति से चल रही है। इन्हीं की तरह कविवर 'अंचल' छायावाद के कोष को वृद्धि देने, नित्य नवीन-नवीन रचनाओं की सृष्टि में निरत हैं। किन्तु अभी अभी कुछ ही वर्षों से, स्वतंत्रता प्राप्त के कुछ ही वर्ष पहले से, यथार्थवाद और प्रयोगवादी कविताओं की बाढ़ भी विशेष रूप से आ गई है। देश, दरिद्रता, भुखमरी, साधन-हीनता, और चरित्र-हीनता की ऊबड़-खाबड़ भूमि में होकर चल रहा है। उसे आज रोटी, कपड़ा और निवास की व्यवस्था के लाले पड़ रहे हैं। धनिक और मजदूरवर्ग से विद्वेष की महान खाई ऐसी दिखाई देने लगी है, जो निकट भविष्य में दोनों वर्गों के लिए अहितकर सिद्ध तो होगी ही साथ ही उसका प्रभाव जाति, समाज और सम्पूर्ण राष्ट्र पर भी पड़े बिना नहीं रहेगा। आज, सामाजिक व्यवस्था का ढाँचा, अस्त-व्यस्त हो गया है और प्राचीन संस्कृति की भूमि पर बना हुआ यहाँ का सामाजिक भवन खण्डहर, के रूप में परिवर्तित होता जा रहा है। देश की इस हीनावस्था ने रूसवाद की ओर हममें से अनेकों का ध्यान आकर्षित किया है और ऐसा कुछ प्रतीत होने लगा है, जैसे रूसवाद या साम्यवाद ही इस देश की जटलि समस्याओं का एक मात्र हल है और इसीलिये यहाँ की काव्य-धारा पर भी उसी वाद का बहुत-कुछ प्रभाव पड़ रहा है ऐसा मालूम होता है। परिस्थिति का प्रभाव मानव-हृदय पर होना

एक स्वाभाविकता है जरूर, परन्तु परिस्थिति पर विजयी होना भी बुद्धि, विवेक, और मानव की प्रतिभा का एक कार्य है। मनन-शील, अध्ययनशील और विवेकी, कभी भी परिस्थिति के वशीभूत हो, युग की लहरों के थपेड़ों, से आहत नहीं होता। वह उनमें से होकर, एक सफल तैराक की तरह, अपने बाहुबल से उन्हें पार करता हुआ, अपने लक्ष्य तक पहुँच जाने का विश्वासी होता है। इसलिए, इस देश में, जहाँ भूख और प्यास की तृप्ति पर ही जीवन-तुष्टि आधारित नहीं है, साम्यवाद पनप नहीं सकता। मेरा ऐसा निर्णय किसी वाद-विवाद के लिए चुनौती नहीं है किन्तु यह मेरा अपना दृष्टि-कोण है जो मेरे अनुभव और मनन-चिन्तन के बाद, मुझे मिल सका है। यही सब कुछ है और केवल यही सत्य है—ऐसा मैं नहीं कहता।

भारत ने सदा ही जीवन की दैनिक आवश्यकता से ऊपर उठकर, आध्यात्मिकता के लिए प्रयत्न किया है। वह जीवन के चिरन्तन-सत्य की खोज हेतु, भूख-प्यास को त्याग कर, कंचन के महलों की ममता को तृणवत छोड़ता चला आया है। इसीलिए उसे रोटी-कपड़ों की तृष्णा आज भले ही सही जँच पड़े, किन्तु अपनी प्रौढ़ता के साथ वह उनके लिए रक्तपात की आवश्यकता को कभी भी श्रेय नहीं देगा। वह तो बुद्ध और गाँधी ऐसे, वस्त्र और धन से विरक्त-सिद्ध महा-पुरुषों के आदर्शों पर, अपनी गति को प्रगति देते चला है। वह सदा ही नग्न, साधन-हीन किन्तु महान आत्माओं, त्यागियों, तपस्वियों, और ज्ञानी ऋषि-मुनियों का भक्त रहा है। भला, जिस देश के रक्त में उच्च नैतिकता, आत्मोत्सर्ग, बलिदान, त्याग, उदारता, मानव-समता और जीव समता, उसके जन्म-काल से ही घुल-मिलकर प्रवाहित हो रहे हों

उसे, अर्थ-प्राप्ति का आकर्षण, पथच्युत और कर्त्तव्य-हीन कैसे कर सकता है ? यहीं रूसवाद, ऐसा रूसवाद, जो केवल आर्थिक-दृष्टि से समानता प्राप्त हो जाने पर ही, मानव-साम्य में विश्वास करता है, भारतीयता की दृष्टि में आदर नहीं पा सकता है।

और इसीलिए इन प्रयोग-वादिनी कविताओं की धारा का यह प्रवाह, कब कहाँ, अनायास सूख जावे, नहीं कहा जा सकता। रूसवाद में जिस हिंसा की महिमा गाई जाती है उस हिंसा से, हिंसा पर, विजय पाना भी तो सुलभ नहीं है।

आज के प्रयोगवादी प्रसिद्ध कवि 'अज्ञेय जी' की एक कविता देखिये और सोच देखिये कि काव्य-दृष्टि से यह कहाँ तक खरी उतरती है ?

इसका शीर्षक है—'सागर के किनारे'—

"तनिक ठहरूँ, चाँद उग आये,
तभी जाऊँगा वहाँ नीचे,
कस मसाते रुद्ध सागर के किनारे,
चाँद उग आये,
न उसकी बुझी फीकी चाँदनी में दिखे शायद,
वे दहकते लाल गुच्छ, बुझ सके जो तुम हो।"

और भी न जाने क्या क्या ? भाव बहुत ऊँचा हो सकता है। इतना ऊँचा जिसे अज्ञेय जी के चश्मे से ही सर्व-साधरण को देख सकना सम्भव हो, पर जिसे लिखने वाला ही अकेला समझे, तो वह प्रयोग ही किस पर हुआ ?

और एक काव्य रचना देखिये जिसके नाम से, पुस्तक का नाम करण हुआ है।

आओ, बैठें, इसी ढाल की हरी घास पर,
माली, चौकीदारों का यह समय नहीं है,

और घास तो, अधुनातन, मानव-मन की भावना की तरह, सदा बिछी है,—हरी न्यौतती,

कोई आकर रौंदे।

आओ, बैठें।

तनिक और सटकर, कि हमारे बीच स्नेह भर का व्यवध्यान रहे बस, नहीं दरारें, सभ्य, शिष्ट जीवन की—

चाहे बोलो, चाहे धीरे-धीरे बोलो, स्वगत गुन गुनाओ, चाहे तुम रह जाओ, हो प्रकृस्तथ, तनोमत, कटी छटी उस,बाड़ सरीखी, नमो, खुल खिलो, सहज मिलो—

अन्तः स्मित, अन्तः संयत, हरी घास सी।
क्षणभर भुला सकें हम, नगरी की बेचैन बुदकती।
गड़ड़ भड़ड़ अकुलाहट, और न माने उसे पलायन।

परन्तु, जहाँ ऐसी प्रयोग वादिनी कविताओं की रचना प्रारम्भ हुई है, वहाँ कवि-विगत तीस वर्षों से नवीन-नवीन प्रेम-गीतों की रचनाओं में भी अत्याधिक व्यस्त है। वह कभी कहता है—

सुमुखि ! अब अधिक यों न निज को छलो तुम,
वृथा मत विरह की अनिल में जलो तुम।
ये पंथ, जो एक दो हो रहे हैं।
चुनो पंथ अपना, उसी पर चलो तुम।

जैसे उसकी प्रियतमा रूठ गई है, और वह उसे मनाने, उसका सहवास पाने के लिए, आतुर हो उठा है।

कोई अपनी चिरसंगिनी की उदासी से चिन्तित होकर गीतों में प्रश्न करने लगता है कि—

"क्यों उदासी से भरा नीलम गगन सा गात है—
सच कहो क्या बात है ?
क्यों तुम्हारे चाँद पर, काली घटा सी छा रही है ?

क्यों तुम्हारे रूप की बिजली खड़ी सकुचा रही ?
क्या समय के फेर ने, तुमको झखोरा ?
सिन्धु की ऊँची तरंगों ने हिलोरा ?
जो तुम्हारी सीपियों में डूबती बरसात है—"

कोई साथी से मिलने के लिए आतुर ऐसा, दिखाई देता है और कहता है—

'कब मिलन के क्षण बनेंगे, चिर-प्रतीक्षा के पहर ये'

इस प्रकार इस युग का एक कवि-वर्ग, प्रिय-प्रेयसि के संयोग-वियोग से समय-समय पर उद्भूत होने वाली, मानव-भावनाओं को प्रदर्शित करता हुआ भी ऐसा दिखाई दे रहा है।

जहाँ यह शृंगार पूर्ण, नये ढग, तुकान्त और अतुकान्त नये पदों में रीति-काव्य की रचना वृद्धि पा रही है, वहाँ हिन्दी की काव्य-धारा की एक गति, रहस्यवाद की ओर भी, प्रवाहित हा रही है—

'तुम दीप और मैं अंधकार।
रह शतत तुम्हारे चरण तले, मैं जी से करता तुम्हें प्यार।

(—मुरलीधर दीक्षित)

कवि महाशक्ति से प्रथकता का अनुभव कर द्वैतवादी भावों में अपने आराध्य के सम्मुख अपनी भावना की सरल भेंट अर्पित करता है।

मनुष्य के उद्‌बोधन का और उसके, चारित्र्यक निर्माण के हेतु कुछ ऐसी रचनाओं का सृजन भी हो रहा है:—

'देखो आज मानवता जिसने कि एक दिन, देवों पर किया था राज, गिरती जा रही है आज पृथ्वी के नीचे—

अतल पाताल के विगर्त में—

ऐसा कह कर, कवि मनुष्य को उसकी पतनावस्था की ओर देखने का सन्देश देता है—

'मानवता रो रोकर पुकारती है तुम्हें हे देव,
अपना नरसिंह-रूप धर कर फिर आओ।
(युग मानव से)

यथार्थ में, समाज में आज अनैतिकता, चरित्र-हीनता संकीर्ण-हृदयता, स्वार्थ और हिंसात्मक-प्रवृति का जैसे आधिपत्य ही हो गया हैं, दिखाई दे रहा है। मानव को मानव से स्नेह नहीं ऐसा रह गया है। 'सर्वभूत हितेरता' का ज्ञान तो उसे जैसे विस्मरण ही हो गया है। मनुष्य का जीवन ऐसा कुछ व्यस्त, और संकटापन्न हो गया है कि उसे अपना ही अपना देखने के अतिरिक्त, कुछ और सूझता ही नहीं। और दैनिक आवश्यकताओं को जुटाने ही में उसका सम्पूर्ण जीवन व्यतीत हो रहा है। क्या सामाजिक, क्या राजनैतिक, और क्या धार्मिक, सभी क्षेत्रों में अस्वस्थ्य वातावरण के दर्शन हो रहे हैं और प्रतारण, शोषण, क्षुद्रता, नृशंसताव रक्तपात में जनरुचि जीवन पाती जा रही है।

ऐसे क्रान्तियुग में, भावुक और प्रतिभाशाली कलाकार का हृदय, प्रभावित न हो तो यह आश्चर्य और दुख की बात है। इसलिए मानव के प्रति स्नेह, एवं दुखी प्राणों के प्रति, सहानुभूति की भावना का उद्भूत होना स्वाभाविक है और हर सम्भव दृष्टिकोण से इस वातावरण का ऐसा स्वस्थ्य बन जाना अपेक्षित है, जिसमें भले मानव को जीवन पाना सम्भव हो सके तथा उदारता, स्नेह, अहिंसा, ममता, उत्साह, पौरुष और कर्म-नैतिकता उसकी प्रवृति में समाहित हो जाँय। यही देश का पुनर्निर्माण होगा और यह केवल युग के कलाकार पर ही पूर्णतया से आधारित रहता है। एतदर्थ राष्ट्र और समाज और व्यक्ति के सर्वतोमुखी उत्थान के लिए आज स्वस्थ-रचनाओं की अपेक्षा है।

तुलसीदास जी का काव्य-गौरव

पानी की लहरों का उद्भव और उनकी गति का आधार, वायु है। हवा, जैसा चाहती है, उन्हें बनाती और बिगाड़ती है। शुष्क पत्ते और धूल कणों को ऊपर उठाकर, जमीन पर बिखरा देना, आँधी का कौतुक है। पाषाण और काष्ठ, जल प्रवाह के हाथ की कठपुतलियाँ हैं। वह उन्हें स्वेच्छा पर जहाँ चाहता है, बहाकर ले जाता है। इसी प्रकार, मानव भी बहुत कुछ अपनी परिस्थिति और वातावरण से प्रभावित होता है। उसके कार्य-कलापों में, उसके अपने वर्तमान की स्पष्ट छाप रहती है। यह सच है कि मनुष्य चेतन होने के कारण, परिस्थिति का अन्धानुगामी दास नहीं होता। वह अपने विवेक के बल, सदा ही परिस्थिति से संघर्ष लेता हुआ, उस पर विजय पाने का विश्वासी होता है, परन्तु सर्व साधारण को उस पर विजय पाने का अवसर बहुत ही कम आ पाता है और एक समय ऐसा आता ही है, जब उसे युगीन परिस्थितियों के सम्मुख घुटने टेकने के लिये विवश होना पड़ता है।

किन्तु कलाकार की स्थिति, विश्व के अन्य मानवों से नितान्त भिन्न होती है। वह निश्चित ही अपने आसपास के वातावरण के प्रभाव का अनुभव करता है। वह परिस्थिति जन्य प्रतारणाओं विवशताओं, हास और विलास को भली तरह अपने चतुर्दिक देखता तो है, किन्तु न तो वह उनकी आँखों रोता ही है और न उनके हास में अपना अट्टहास मिलाकर, मदोन्मत्त ही होता है। उसके हृदय का, परिस्थिति से स्पन्दित होना स्वाभाविक है, परन्तु

उसकी विशेषता यही है कि वह विषम समय में भी, स्वतः को स्थिर बनाये रखने में सफल होता है। कलाकार, परिस्थिति से प्रभावित होकर, उसमें समाहित अमान्यताओं को कभी भी स्वीकृति नहीं देता।

जहाँ उसके मन, वचन और कर्म से इन अग्राह्यताओं, दुर्भावनाओं और अहितों के प्रति तिरस्कार, घृणा और विद्रोह के भाव-प्रकट होते हैं वहाँ वह अपने विवेक, अनुभव और चिन्तन द्वारा निर्णीत सत्य को भी, आँख से ओझल नहीं होने देता। उसके प्रत्येक कार्य में उसके सत्य के दर्शन भी सुलभ होते हैं। यथार्थ में कमल-पत्र की तरह, युग के वातावरण एवम् परिस्थिति के नीरालय में रहकर भी, वह निर्लिप्त ही बना रहता है। न तो युग के सुखों से वह अहं और दम्भ ही बटोरता है और न दुख की निष्ठुर हथेलियों के बीच पड़कर, उसका हृदय आहों और आँसुओं से ही शृंगार पाता है।

वह तो रसाल वृक्ष के समान, युग के विपरीत, वातावरण की आँधी के समय, हिलता-डोलता हुआ अपने स्थायित्व को रक्षित बनाये रहता है। न तो जीवन-विरोधी आतप से उसका शरीर ही कुम्हलाता है और न मेघों के पानी में ही, उसका विनाश होता है, अपितु वह तो निरन्तर अपने विवेक की जड़ों द्वारा, युग की भूमि से, मनवांछित रस संचय करता हुआ, वर्तमान और भविष्य को, उत्कृष्ट साथ ही आदर्श-रचनाओं के सुमनों एवं सरस फलों की भेंट करने में ही जीवन की सार्थकता आँकता है। यहीं वह द्रष्टा भी होता है और स्रष्टा भी।

गोस्वामी जी का जीवन-काल सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर, सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक अनुमानित हुआ है। यह एक ऐसा समय था जब इस राष्ट्र में यवनों का आधिपत्य था और यहाँ की जन-भावना पर, यवन-संस्कृति का विशेष रूप से प्रभाव पड़ रहा था तथा उसके परिणाम स्वरूप इस राष्ट्र की सामाजिक, राजनैतिक, आध्यात्मिक, धार्मिक एवं व्यक्तिगत विचार धारा, किसी न किसी रूप में उससे सम्बन्धित थी।

फलतः भारतीयों का ब्रह्म-विश्वास खण्ड-खण्ड हुआ और वे द्वैत, अद्वैत तथा विशिष्टाद्वैत की उलझनों में व्यस्त हुए। समाज के एक भाग में रामानन्द जी के मतानुयायियों द्वारा राम-भक्ति का प्रचार श्रीवृद्धि पाने लगा तो दूसरे भाग में सूफियों की विचारधारा पर आधारित प्रेम-मार्ग का अनुसरण करना, उस युग का आदर्श बना। नाग-पथियों के विश्वास को भी तब अपढ़ और रूढ़िवादी जनता में बहुत कुछ सम्मान प्राप्त था। समाज में कहीं वैष्णव सम्प्रदाय का प्राबल्य दिखाई देने लगा, तो कहीं कृष्ण-भक्ति की प्रधानता दृश्य हुई।

इस तरह उस युग के व्यक्ति का ध्यान और विश्वास, भक्ति ज्ञान, साधना, तप, योग, कर्म और उपासना के विभिन्न साधनों को मान्यता देता हुआ, स्वमुक्ति का अभिलाषी हो रहा था। विचार और विश्वासों के ऐसे संघर्षमयी समय का तुलसीदास के जीवन पर भी प्रभाव पड़ा। उन्हें प्रेरणा मिली। वे स्पन्दित हुए। उनकी हृदय-तंत्री पर ऐसी ही अनेकताओं का जब असर पड़ा, तब उनकी वाणी से, उनके निर्दिष्ट सत्य की सृष्टि हुई। उनकी गीतावली, विनय-पत्रिका, कवितावली तथा रामचरितमानस आदि

उसकी विशेषता यही है कि वह विषम समय में भी, स्वतः को स्थिर बनाये रखने में सफल होता है। कलाकार, परिस्थिति से प्रभावित होकर, उसमें समाहित अमान्यताओं को कभी भी स्वीकृति नहीं देता।

जहाँ उसके मन, वचन और कर्म से उन अग्राह्यताओं, दुर्भावनाओं और अहितों के प्रति तिरस्कार, घृणा और विद्रोह के भाव-प्रकट होते हैं वहाँ वह अपने विवेक, अनुभव और चिन्तन द्वारा निर्णीत सत्य को भी, आँख से ओझल नहीं होने देता। उसके प्रत्येक कार्य में उसके सत्य के दर्शन भी सुलभ होते हैं। यथार्थ में कमल-पत्र की तरह, युग के वातावरण एवम् परिस्थिति के नीरालय में रहकर भी, वह निर्लिप्त ही बना रहता है। न तो युग के सुखों से वह अहं और दम्भ ही बटोरता है और न दुख की निष्ठुर हथेलियों के बीच पड़कर, उसका हृदय आहों और आँसुओं से ही शृंगार पाता है।

वह तो रसाल वृक्ष के समान, युग के विपरीत, वातावरण की आँधी के समय, हिलता-डोलता हुआ अपने स्थायित्व को रक्षित बनाये रहता है। न तो जीवन-विरोधी आतप से उसका शरीर ही कुम्हलाता है और न मेघों के पानी में ही, उसका विनाश होता है, अपितु वह तो निरन्तर अपने विवेक की जड़ों द्वारा, युग की भूमि से, मनवांछित रस संचय करता हुआ, वर्तमान और भविष्य को, उत्कृष्ट साथ ही आदर्श-रचनाओं के सुमनों एवं सरस फलों की भेंट करने में ही जीवन की सार्थकता आँकता है। यहीं वह द्रष्टा भी होता है और स्रष्टा भी।

गोस्वामी जी का जीवन-काल सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर, सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक अनुमानित हुआ है। यह एक ऐसा समय था जब इस राष्ट्र में यवनों का आधिपत्य था और यहाँ की जन-भावना पर, यवन-संस्कृति का विशेष रूप से प्रभाव पड़ रहा था तथा उसके परिणाम स्वरूप इस राष्ट्र की सामाजिक, राजनैतिक, आध्यात्मिक, धार्मिक एवं व्यक्तिगत विचार धारा, किसी न किसी रूप में उससे सम्बन्धित थी।

फलतः भारतीयों का ब्रह्म-विश्वास खण्ड-खण्ड हुआ और वे द्वैत, अद्वैत तथा विशिष्टाद्वैत की उलझनों में व्यस्त हुए। समाज के एक भाग में रामानन्द जी के मतानुयायियों द्वारा राम-भक्ति का प्रचार श्रीवृद्धि पाने लगा तो दूसरे भाग में सूफियों की विचारधारा पर आधारित प्रेम-मार्ग का अनुसरण करना, उस युग का आदर्श बना। नाग-पथियों के विश्वास को भी तब अपढ़ और रूढ़िवादी जनता में बहुत कुछ सम्मान प्राप्त था। समाज में कहीं वैष्णव सम्प्रदाय का प्राबल्य दिखाई देने लगा, तो कहीं कृष्ण-भक्ति की प्रधानता दृश्य हुई।

इस तरह उस युग के व्यक्ति का ध्यान और विश्वास, भक्ति ज्ञान, साधना, तप, योग, कर्म और उपासना के विभिन्न साधनों को मान्यता देता हुआ, स्वमुक्ति का अभिलाषी हो रहा था। विचार और विश्वासों के ऐसे संघर्षमयी समय का तुलसीदास के जीवन पर भी प्रभाव पड़ा। उन्हें प्रेरणा मिली। वे स्पन्दित हुए। उनकी हृदय-तंत्री पर ऐसी ही अनेकताओं का जब असर पड़ा, तब उनकी वाणी से, उनके निर्दिष्ट सत्य की सृष्टि हुई। उनकी गीतावली, विनय-पत्रिका, कवितावली तथा रामचरितमानस आदि

में जो कुछ भी है वह उनका अपना अनुभूत सत्य है।

रामचरितमानस के हेतु लिया गया 'प्रबन्ध' तो आगे चलकर इस राष्ट्र का और यहाँ की संस्कृति का एक अभूतपूर्व गौरव सिद्ध हुआ। साथ ही आज उसका सभी भाषाओं में उल्था तथा उसमें वर्णित मानवीय जीवन-स्तर के सम्बन्ध में सभी की सम्मान पूर्ण स्वीकृति, उसके महान-काव्य-ग्रंथ होने की पुष्टि है।

यथार्थ में महाकवि तुलसीदास के रामचरितमानस से, आज हिन्दी-साहित्य को विश्व की समस्त भाषाओं के सर्वश्रेष्ठ साहित्य के समक्ष, सगौरव खड़े होने का अपूर्व वरदान मिला है और इसलिए हिन्दी-साहित्य के साथ, सम्पूर्ण भारतीयता उनकी चिर-ऋणी रहेगी। इस महान काव्य-ग्रन्थ से यहाँ की विश्रृङ्खलता नैतिकता, राष्ट्रीयता और धार्मिकता को जो बल और सत्प्रेरणा मिली, वह चिरस्मरणीय रहेगी।

काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से रामचरितमानस के अतिरिक्त, महाकवि तुलसीदास जी के सभी काव्य-ग्रन्थ स्फुट दोहों, चौपाइयों और पदों से शोभित हैं। उन्होंने केवल रामचरित-मानस की रचना में ही प्रबन्ध-काव्य को मान्यता दी है। वास्तव में, उस समय, अपनी प्रतिभा के व्यक्तिकरण के लिए, सभी प्रतिभावान् कवि, महात्मा और साधू दोहों, चौपाइयों और पदों को माध्यम बनाते चल रहे थे। तुलसीदास जी ने भी काव्य-शैली को कोई नवीनता नहीं दी। उन्होंने तो सामाजिक-विश्रृङ्खलता को एक सूत्रता में परिवर्तित कर देने की दृष्टि से, अपने युग में प्रचलित सभी शैलियों को अपनी रचना में स्थान दिया। यही उनकी विशेषता थी। प्रबन्ध-काव्य की प्रथा भी सूफी काव्य-शैली का अनुसरण

मात्र है; किन्तु सूफी कवि सदा प्रबन्ध-काव्य को आधार बना कर मानव-प्रेम के व्यक्तिकरण के हेतु ही प्रयत्नशील रहे हैं, इसलिए उनकी काव्य-धारा को प्रेम-मार्गी-धारा की संज्ञा दी गई परन्तु तुलसीदास जी ने केवल प्रेम के पीछे चलते चले चलने में, मानव कल्याण की कल्पना नहीं की। उन्हें नर-नारी के प्रेम-वर्णन की ओट में ब्रह्म-ज्ञान की स्पष्टोक्ति भी मान्य नहीं हुई। उन्होंने एक सफल-समीक्षक और मौन-विचारक की नाईं उस युग के मानव-जीवन के, प्रत्येक पहलू पर बहुत बारीकी के साथ विचार किया। उसके हितकारी एवं अहितकारी परिणाम को मनन और चिन्तन के हाथों सुलझाया और तब उस हृदय-मंथन के पश्चात् व्यक्ति, जाति, समाज, राष्ट्र और लोकहित को ध्यान में रखकर, उन्होंने रामचरितमानस की रचना की।

रामचरित मानस में वर्णित सभी पात्रों के जीवन की ओर ध्यान पूर्वक देखने से पता चल जाता है कि तुलसीदास जी ने व्यक्ति के नैतिक उत्थान व उसकी चारित्रिक-महानता को, सभी दृष्टि-कोण से प्रधानता दी है। साथ ही समाज को अक्षुण्य बनाये रखने के लिये, जिस आदर्श-कौटुम्बिकता का प्रतिपादन किया है 'रामचरित' मानस में अपना एक ही श्रेष्ठ स्थान रखती है। उन्होंने कला को जन-हित और लोक-हित से प्रथक नहीं होने दिया।

वे अपने आदर्श-राम के प्रति जैसी श्रृद्धा और उच्चसम्मान रखते थे तथा जन-साधारण में जिस महान विनय-शीलता की कल्पना के विश्वासी थे, वह, उनके इस दोहे से भली भाँति स्पष्ट हो जाती है:—

तुलसी जिनके मुखनतें, भूठेहु निकसत राम।
तिनके पग की पानहीं, मेरे तन को चाम॥

भाषा की दृष्टि से गोस्वामी जी ने उस युग में प्रचलित अवधी और ब्रज भाषाओं में ही रचना करना युक्ति-संगत समझा। किन्तु उनकी सबसे प्रधान यही काव्य महिमा है कि उन्होंने मानव की हर-सम्भव मनोभावना का सूक्ष्मता के साथ अपनी कविता में निदर्शन किया है। यह विशेषता सभी कवियों में नहीं होती। भाषा पर तो इनका पूर्ण अधिकार था। इनकी रचनाओं का समीक्षण करने पर विदित होता है कि तुलसीदास जी को जब, जिस भाव अभिव्यंजना के लिये जैसे शब्द की आवश्यकता हुई तब ठीक वैसा ही, भाव-वहन कर सकने वाला शब्द, उनकी इच्छा मात्र पर सामने आया।

यथार्थ में राम चरितमानस, हिन्दी साहित्य के लिये, एक विचित्र देन है। इस महा ग्रन्थ की उपमा, उस सागर से देना अधिक युक्ति-युक्त जँचता है जिसकी लहरों में ही रत्न-राशि तैरती फिरती है। और जिसके तटपर जाकर प्रत्येक, व्यक्ति को उन अमूल्य-रत्नों की प्राप्ति, बिना प्रयास ही सम्भव हो। कबीर की कथोक्ति—"जिनखोजा तिन्ह पाइयाँ गहरे पानी पैठ—" रामचरित मानस के समुद्र की सैर करने वाले के लिये, एक असंगति ही प्रतीत होती है।

क्योंकि जब इस सागर के पास जाकर ही, व्यक्ति को हर प्रकार की उपलब्धि सम्भव है तब गहरे पानी में प्रवेश की इच्छा सर्व साधारण के लिये आवश्यकीय नहीं। यहाँ तो "भूले ही जो

जो तट गये, तिन्ह भर लीन्हीं गोद" कहना अधिक युक्ति संगत जँचता है। यही कारण है जो कि अपढ़ से लेकर, प्रकाण्ड पंडित तक के लिये यह महा ग्रन्थ मान्य और ग्राह्य है। तथा प्रत्येक अपनी शक्ति और इच्छा, के अनुसार रत्न-राशि प्राप्त कर लेता है।

कलाकार-युग की आत्मा में बैठकर अपनी सरस, मर्म-स्पर्शी एवं उद्बोधक कथोक्तियों के द्वारा उसमें अपने अनुभूत सत्य की प्रतिष्ठा की अपेक्षा रखता है। साथ ही उसकी रचनाओं में अहितैषी तथ्यों के निराकरण के लिये, तिरस्कार हेतु मौन संकेत भी सुन्दरता-पूर्वक समाहित होता है। क्योंकि युग-प्रवर्त्तक और युग-निर्माता कलाकार सदा ही इस बात के हेतु, सचेष्ट रहता है जिससे युग की आँख उन लोकहारी और समाज-विघातिनी बातों की ओर आकर्षित ही न हो पाये। महाकवि-तुलसीदास की काव्य रचनाओं में ऐसे संकेत अनेक स्थलों पर सहज ही दृश्य हैं।

अनुप्रास तो इनकी इच्छा मात्र पर ही जैसे दौड़े चले आते थे। उन्होंने कभी पद्माकर और बिहारी कवियों की तरह, अनुप्रासों की खोज में अपनी प्रतिभा को परेशान नहीं किया। अलंकारों में उपमा, मालोपमा, उत्प्रेक्षा तथा रूपक का प्रधान रूप से समावेश मिलता है। निम्नांकित पंक्तियों में अवधी-भाषा का हृदय ग्राही लालित्य और अनुप्रासमयी शब्द योजना दर्शनीय है। महाकवि ने भरत जी के मुँह से, श्रीराम के लिये इस प्रकार के मधुर शब्द कहलाकर, एक ओर जहाँ काव्य की सरसता

को द्विगुणित किया है वहाँ भरत के चरित्र में भी चार चाँद लगाकर, उनकी महानता को अनुपमेय बना दिया है।

धरम, धुरीन धीर नयनागर।
सत्यसनेह शील सुख-सागर॥

आगे उल्लखित इन पंक्तियों में रूपक-युक्त अनुप्रासों की अभिव्यक्ति तो देखते ही बनती है।

सुमति भूमि थल, हृदय अगाधू,
वेद, पुरान, उदधि, घन साधू॥
बरसहिं राम सुजस बरबारी,
मधुर मनोहर मंगल कारी॥

इसी तरह, नीचे दिये गये दोहे में वर्णित रूपक की समाविष्टि भी अपने ढंग की एक ही है।

पुलक वाटिका, बाग वन, सुख सुविहंग विहारु।
माली-सुमन, सनेह जल, सींचत लोचन चारु॥

तुलसीदास जी के उपमा और मालोपमा के दृष्टान्त तो बहुत ही उत्कृष्ट और अनूठे हैं। लक्ष्मण जी, भरत जी को, उनकी सेना सहित आते हुए देखकर जो कुछ कहते हैं वह उनके ऐसे प्रखर-स्वभाव व्यक्ति के लिये ही शोभा देता है। साथ ही महाकवि की प्रतिभा ने जिस सफलता से अन्तर्भावना का निदर्शन किया है वह वर्णनातीत है।

जिमि करि निकर, दलै मृग-राजू,
लेइ लपेट, लवा जिमि बाजू।
तैसइ भरतहिं सैन समेता,
सानुज निदरि निपातौं खेता॥

करि, मृग-राज से शरीर में बड़ा होता है। किन्तु वही लघुकाय सिंह, दीर्घकाय हाथी को परास्त कर देता है। गोस्वामी जी ने बहुत प्रवीणता से शब्दों का चयन करके, यहाँ मालोपमा को सार्थक बनाया है। लक्ष्मण से भरत बड़े थे। इसीलिये उन्हें करि से पटता दी और लक्ष्मण को सिंह बनाया, इसी तरह करि-निकर लिखकर, भरत जी का सेना सहित होना भी सार्थक किया।

हाथी और सिंह की उपमा के बाद लवा और बाज की उपमा देकर कथोक्ति को अधिक सरस, सुस्पष्ट और प्रभाव शाली बनाया है मालोपमा का एक और अति सुन्दर उदाहरण देखिये।

गिरा अर्थ जल-बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।
बन्दौ सीताराम पद, जिनहिं परम प्रिय खिन्न॥

गिरा (वाणी) शब्द स्त्रीलिंग है और अर्थ, पुलिंग। इसी तरह जल व बीचि भी क्रम से पुलिंग और स्त्रीलिंग शब्द हैं। 'सीताराम' शब्द की, गिरा और अर्थ तथा जल और बीचि की तरह, चाहे सीता शब्द प्रथम हो अथवा राम पहले, उसकी वास्तविकता में कोई भिन्नता नहीं होती।

सीताराम शब्द में, सीता और राम की एक रूपता को, गिरा, अर्थ, जल और बीचि का आश्रय लेकर, सिद्ध करना तुलसीदास जी ऐसे महाकवि का काव्य-गौरव है।

इन्होंने एक तो लम्बे-लम्बे रूपक लेकर काव्य को गढ़ने का कभी प्रयास ही नहीं किया और यदि जहाँ कहीं भी लम्बे रूपकों पर इन्होंने कलम चलाई है वहाँ उसे पूर्णता देकर ही छोड़ा है

और अन्ततः सर्वांगीण सुन्दर बनाया है। प्रथम तो 'रामचरित मानस' को ही मान सरोवर से पटता देकर, इस काव्य-ग्रन्थ की लोकोपयोगिता को प्रतिष्ठित किया है। आगे एक स्थान में; धर्म को रथ से समता देते समय भी रूपक को लम्बा किया है पर ऐसे रूपकों को पढ़कर भी पाठक कभी अरुचि का अरुचि का अनुभव नहीं कर सकता और न उसे ऐसा प्रतीत होता है कि महाकवि ने इतने लम्बे-लम्बे रूपक बांध कर समय और प्रयास का दुरुपयोग किया है यही महात्मा जी की विशेषता है।

कुटिल कैकेई को सरोष तरङ्गिनी से जो उपमा दी है वह बहुत ही उपयुक्त है:—

अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी,
मानहु रोष तरंगिनि बाढ़ी।
पाप पहाड़ प्रकट भई सोई,
भरी क्रोध जल, जाइ न जोई॥
दोउकर कूल कठिन हठ धारा,
भँवर कूबरी, वचन प्रचारा।
ढाहत भूप रूप तरु मूला,
चली विपति वारिधि अनुकूला॥

शृंगारिकता का वर्णन करते समय तुलसीदास जी ने सदैव मर्यादा का बहुत ध्यान रखा है और वे शिष्टता-पूर्वक, शृंगार की भावनाओं को प्रकट कर जिस सुन्दरता से निभा गये हैं वह उपा-

देय है। वन-यात्रा के समय जब ग्रामवासी श्री सीता जी श्री राम के सम्बन्ध के बारे में पूछते हैं तब सीता जी जिस शिष्टता से उनके प्रश्न का उत्तर दे देती हैं वह देखते ही बनता है।

कोटि मनोज लजावन हारे। सुमुखि कहहु को अहहिं तुम्हारे ?
सुनि सनेह मय मंजुल बानी। सकुचि सीय मन मँह मुसकानी।
तिनहि विलोकि, विलोकत धरनी। दुहुँ सकोच सकुचित वरनी।
सकुचि सप्रेम बाल मृग नयनी। बोली मधुर वचन पिक बयनी।
सहज सुभाय, सुभग तन गोरे। नाम लखन लघु देवर मोरे।
बहुरि वदन विधु आँचल ढाँकी। प्रिय तन चितय भौंह कर बाँकी।
खंजन मंजु तिरीछे नयननि। निजपति कहेउ तिनहि सिय सैननि।

यह है विनय-शीलता के प्रणेता श्री तुलसीदास जी के शृंगार-रस प्रदर्शन की विशेषता।

यहाँ की नारी का यह शील और उसकी ऐसी लज्जा भारतीय संस्कृति के गौरव को अनन्त-काल तक अक्षुण्ण रखने में समर्थ हैं।

कहीं-कहीं तो उनकी रचनाओं में ऐसी सफल उपमायें देखने को मिलती हैं जिन्हें हठात् काव्य-क्षेत्र में नवीन प्रयोग मानना ही पड़ता है। सीता जी के रूप-सौन्दर्य को उन्होंने कितने सुहावने एवं अनुपम ढंग से कहा है:—

सुन्दरता कँह सुन्दर करई। छबिगृह दीप-शिखा जनु बरई।

गोस्वामी जी के प्रबन्ध-काव्य में कुछेक मार्मिक-स्थलों का ऐसा प्रभावशाली एवं सरस वर्णन मिलता है जिसे पढ़कर पाठक रोमांचित हुए बिना रह ही नहीं सकता। मानव की अन्तर्भावनाओं को शब्दों और भावों के सहारे ज्यों का त्यों बाह्य विश्व के समक्ष प्रस्तुत कर देना साधारण प्रतिभा के वश की बात नहीं होती। ऐसी महानता तो क्वचित विरले भाग्यशाली को गौरवान्वित करती है तुलसीदास जी भी ऐसे भाग्यशालियों में से एक थे। श्रीराम ने जब अपने लघु भ्राता के आगमन का समाचार सुना तब वे भ्रातृ-भाव से प्रेरित होकर जिस प्रेम से ओत-प्रोत होकर उनसे मिलने के लिए उठ दौड़े उसकी यथार्थ झाँकी, तुलसीदास जी ऐसे कलाकार की कलम से ही सुन्दर बन पड़ी है:—

उठे राम सुनि प्रेम अधीरा। कहुँ पट, कहुँ निषङ्ग, धनुतीरा।

एक ओर जहाँ उग्र-स्वभाव लक्ष्मण के विचार में भरत विद्रोही और राज्य-लोलुप के रूप में कल्पित हुए, वहाँ राम ऐसे आदर्श भाई के हृदय में अपने भाइयों के लिए जैसा सरल स्नेह अपेक्षित था, तुलसी दास जी ने ठीक वैसा ही स्नेह-सरोवर कुछेक शब्दों की सीमा देकर, उपस्थित भी कर दिया।

इतना ही नहीं, ज्येष्ठ भ्राता राम प्रेमातुर होकर भरत से मिलने भी गए और उन्हें बरवस हृदय से लगाकर अपने साथ लाये भी:—

बरबस लिए उठाय उर, लाए कृपानिधान
भरत राम की मिलन लखि, बिसरे सबहिं अपान

इसी तरह जब गिद्धराज जटायु, रावण से युद्ध करते हुए आहत होकर मरणासन्न अवस्था में धराशायी रहते हैं और श्रीराम का जब उनसे मिलन होता है उस समय पक्षीराज मार्मिक वाणी में कहते हैं।

नाथ दशानन यह गति कीन्ही। तेहि खल, जनक-सुता हर लीन्ही
लै दच्छिन दिसि गयउ गोसाईं। बिलपति अति, कुररी की नाईं॥
दरस लागि प्रभु राखेऊँ प्राना। चलन चहत अब कृपा निधाना॥
जाकर नाम मरत मुख आवा। अधमउ मुकत होइ श्रुति गावा॥
सो मम लोचन,गोचर आगे। राखौं देह नाथ केहि लागे॥

भक्तराज जटायु के ऐसे विवेक पूर्ण शब्द सुनकर मर्यादा पुरुषोत्तम राम के हृदय में जिन भावनाओं का उद्रेक स्वाभाविक है महाकवि, उनका निदर्शन इस तरह सफलता पूर्वक करते हैं।

जल भरि नयन, कहहिं रघुराई। तात कर्म निजतें गति पाई।
परहित बस जिनके मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं।

एक ओर जहाँ पक्षीराज, स्वमुक्ति का आधार प्रभु दर्शन को बताकर, जीवन की कामना नहीं करते वहाँ दूसरी ओर तुलसी दास जी श्रीराम के मुँह से--तात कर्म निजतें गति पाई—कहला कर, मनुष्य को अपने कर्म करते रहने का आदर्श बतलाना भी

नहीं भूले। साथ ही—"परहित बस जिनके मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं"—लिखकर 'परोपकाराय पुण्याय' के संदेश को सुगमकर, मानव मन में, पर-हित की भावना को दृढ़ता देने का कार्य निभाया है। जिन भारतीय उच्चादर्शों में ऐसी महान् धारणाओं को स्थान है भला ऐसे राष्ट्र में, अर्थ के ऊपर मानव जीवन के भवन की भित्ति का निर्माण, कब तक स्थायित्व पा सकेगा ?

जटायु को इस संसार से बिदा लेते हुए देख, तुलसीदास के श्रीराम कहते हैं:—

सीताहरन तात जनि, कहहु पिता सन जाय।
जो मैं राम तो कुल सहित, कहहिं दशासन आय॥

एक ओर जहाँ भारतीय जीवन सम्बन्धी विश्वास का प्रतिपादन किया गया है वहाँ यहाँ के जाति-गौरव का उत्थित निदर्शन करने से भी गोस्वामी जी नहीं चूके। उन्होंने इसे भली तरह प्रदर्शित कर दिया है कि भारतवासी अपने प्रतिद्वन्द्वी से ऐसी महान प्रतिशोध की भावना लेकर व्यवहृत होता है।

यथार्थ में महाकवि के ऐसे ही उत्कृष्ट आदर्शों की सृष्टि के कारण भारत में समय-समय पर श्रीराम ऐसे व्यक्तित्वों का उदय हुआ।

मानव समता की भावना की पुष्टि के लिए भी तुलसीदास जी ने केवट और शबरी के उद्धरणों की समाविष्टि की और मानव की रूढ़िवादी, संकीर्ण विचार-धारा को पनपने नहीं दिया। इसी तरह भक्ति-हीन जीवन को निस्सार कहकर अहंमन्य सत्ताधारियों और धनिकों को पथ-च्युत न होने के लिए सतर्कता दी।

जाति पांति कुलधर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई।
भक्तिहीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल वारिद देखिअ जैसा।

कवित्व प्रदर्शन के साथ उन्होंने विशुद्ध एवं उत्थित मानवता का जो आदर्श अपनी काव्य रचनाओं में उपस्थित किया है वह हर युग में उपादेय रहेगा और मानव की श्वास के साथ उसकी महत्ता जीवित रहेगी।

षटविकार अनवद्य अकामा, अचल अकिंचन सुचि सुखधामा।
अमित बोध, अनीह मित भोगी। सत्य सार कवि कोविद जोगी।
सावधान मानद मन हीना। धीर धर्म गति परम प्रवीना।

निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं। परगुन सुनत अधिक हरषाहीं।
सम शीतल नहिं त्यागहिं नीती। सरल सुभाउ सबहिं तन प्रीती।

जप तप व्रतदम संजम नेमा। गुरु गोंविद विप्र पद प्रेमा।
श्रद्धा छमा मयत्री दाया। मुदिता मम पद प्रीति अमाया।
विरति विवेक विनय विग्याना। बोध जथारथ वेद पुराना।
दम्भमान-मद करहिं न काऊ। भूलि न देहि कुमारग पाऊ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय जीवन में क्रान्तिकर, उसे दृष्टिकोण से महानता की ओर अग्रसर होते रहने का संदेश देने वाले क्रान्तिकारी, समाजसुधारक, प्रेरक, उदबोधक, महात्मा एवं युग स्रष्टा तुलसीदास ने महाकाव के रूप में, हिन्दी-काव्य की श्री बृद्धि कर उसे जो अक्षुण्णता, कीर्ति और अमरता दी है वह अनुपमेय है।